

प्रथम संस्करण	: 1,500
द्वितीय संशोधित संस्करण	: 1,000
श्रुतपंचमी	<u>2 हजार 500</u>
(दि. 22 मई, 2015)	

प्रकाशकीय

ब्र. यशपालजी द्वारा लिखित एवं डॉ. अरुणकुमार बंड तथा डॉ. संजीवकुमार गोधा द्वारा संपादित 'जीव-जागा-कर्म भागा' का नवीनतम संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। कर्म की दस अवस्थाओं को नक्शों के द्वारा ज्ञान कराने का एवं विस्तार के साथ समझाने का प्रयास नया ही प्रयोग है। यह प्रयोग सफल ही होगा; ऐसा हमें विश्वास है।

ट्रस्ट की ओर से प्रतिवर्ष जयपुर में आयोजित होनेवाले दस दिवसीय आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर के अवसर पर करणानुयोग संबंधी प्रारम्भिक ज्ञान कराने हेतु गोम्मटसार के गुणस्थान प्रकरण की कक्षा ब्र. यशपालजी जैन द्वारा ली जाती है। उस समय कक्षा में बैठनेवाले भाइयों को इस विषय को समझने में जो बाधाएँ आती हैं, वे मुख्यतः करणानुयोग की पारिभाषिक शब्दावली से संबंधित होती हैं।

श्री टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय के शास्त्री प्रथम वर्ष के अभ्यासक्रम में गुणस्थान-विवेचन की पुस्तक पढ़ायी जाती है। पढ़ाने का कार्य प्रारंभ से ही ब्र. यशपालजी ही करते आ रहे हैं। अब इस कृति से विद्यार्थियों को कर्म की दस अवस्थाओं को समझना और समझाना दोनों सुलभ हो जायेंगे। अनेक स्थान पर मुमुक्षु मण्डल की शास्त्र सभा में भी गुणस्थान पढ़ाया जाता है। वहाँ भी कर्म की दस अवस्थाओं को समझाना सहज होगा; ऐसा हमें विश्वास है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का यथार्थ ज्ञान करने कराने के लिए इन दस करणों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। दस करण पुस्तक से इस कमी की पूर्ति हो रही है; इसका हमें हार्दिक आनन्द है।

प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का ज्ञान करते समय बंध करण एवं बंध तत्त्व का ज्ञान करने के लिए भी यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

ब्र. यशपालजी, डॉ. अरुणकुमार एवं डॉ. संजीव गोधा तीनों ही चारों अनुयोगों के संतुलित अध्येता एवं वैराग्य-रस से भीगे हृदयवाले आत्मार्थी विद्वान् हैं। टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से संचालित होने वाली प्रत्येक गतिविधि में इनका सक्रिय योगदान रहता है। ट्रस्ट के अनुरोध से ये बारम्बार प्रवचनार्थ भी अनेक स्थानों पर जाते रहते हैं।

ब्र. यशपालजी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड की टोडरमलजी रचित (सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका) टीका का सम्पादन का कार्य अत्यन्त श्रम एवं एकाग्रतापूर्वक किया है तथा इस संपादन कार्य से प्राप्त अनुभव का भरपूर उपयोग करते हुए प्रस्तुत कृति तैयार की है; अतः ट्रस्ट आपका हार्दिक आभारी है।

नक्शों को कम्प्यूटर पर तैयार करने का कष्टसाध्य कार्य श्री कैलाशचन्दजी शर्मा ने किया है। अतः उन्हें और दानदातारों को भी संस्था धन्यवाद देती है।

इस पुस्तक की प्रकाशन व्यवस्था में साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, अतः वे बधाई के पात्र हैं। यह पुस्तक आप सभी आत्मार्थियों को कल्याणकारी हो ह इसी भावना के साथ।

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

महामंत्री - पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

मूल्य :
२५ रुपये

टाइपसेटिंग
त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स
ए-४, बापूनगर
जयपुर

मुद्रक :
सन् एन सन प्रेस
तिलक नगर,
जयपुर

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
* प्रकाशकीय	३
* संपादकीय	४
* मनोगत	१७
* विषय प्रवेश	२१
१. नक्शों में दशकरण	३०
२. बंध	७५
३. सत्त्व	१०८
४. उदय	१२०
५. उदीरणा	१५६
६. उत्कर्षण-अपकर्षण	१७२
७. संक्रमण	१८२
८. उपशांत	१८८
९. निधत्ति-निकाचित	१९५

सम्पादकीय

डॉ. अरुणकुमार जैन
डॉ. संजीवकुमार गोधा

● विगत कुछ वर्षों से पण्डित किशनचन्दजी के सान्निध्य में करणानुयोग का गहराई से अध्ययन करने का अवसर मिल रहा है। इसी क्रम में आदरणीय अण्णाजी/ब्र. यशपालजी जैन ने जब हमें 'दस करण चर्चा' के सम्पादन के लिए कहा, तब एक तो वे हमारे गुरु तुल्य हैं, अतः उनकी आज्ञा नहीं टाल सकते थे तथा दूसरा हमारी रुचि का विषय होने से हमने तत्काल स्वीकार किया। हम इसमें जो कुछ कर पाये हैं, उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

सम्पादन – लेखक के स्वयं के जीवन-काल में प्रकाशन होने से तथा प्रथम बार प्रकाशन होने से सम्पादन की गुंजाइश नहीं थी। प्रस्तुति प्रश्नोत्तर तथा बिन्दुवार शैली में होने से भी सम्पादन के लिए अवसर नहीं था। भाषाप्रवाह, अनुच्छेद तथा शीर्षकों का ध्यान रखा गया है, जिससे विषयबोध में अधिक सुगमता हो। लेखक के लेखन में ही सुगमता होने से वहाँ भी सम्पादन की आवश्यकता नहीं थी। विषय अपनेआप में नया तथा निराला होने से उसे अन्य ग्रन्थों के अधिक उद्धरण से बचाया गया है। जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ लेखक ने स्वयं ही उद्धरण उद्धृत दिये हैं।

नामकरण – कर्म की विशिष्ट दस अवस्थाओं को करणानुयोग में दस करण कहा गया है। उन्हीं की चर्चा के साथ विस्तार होने से इस पुस्तक का नाम **दसकरण चर्चा** रखा गया है।

वस्तुतः जीव ही बलवान है, कर्म नहीं; इस वास्तविकता का निर्णय कराने की बलवती भावना होने से इसका नाम **जीव जागा-कर्म भागा** रख दिया है।

ग्रन्थ शैली – स्वयं का अध्ययन, चिन्तन, मनन; अन्य विशेषज्ञ

विद्वानों से चर्चा तथा पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों के अध्ययन, उद्धरणों से इस कृति का जन्म हुआ है; अतः ग्रन्थ की शैली निखरी हुई है। प्रश्नोत्तर तथा बिन्दुक्रम शैली में इस कृति की रचना हुई है।

विषय प्रस्तुतिकरण के तीन विभाग रखे हैं –

- (१) आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर
- (२) भावदीपिका-चूलिका अधिकार
- (३) आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

भाषा सर्वत्र सरल और सुगम है। विषय को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रोक्त उदाहरणों का सहारा लिया है, विशेष स्पष्टीकरण के लिए रेखा-चित्रों का भी उपयोग किया है। यह सहज बोधगम्य कृति सभी शास्त्राभ्यासी जिज्ञासुओं के लिए अवश्य पठनीय है।

ग्रन्थ सारांश –

विषय प्रवेश – ग्रन्थ में प्रयुक्त कर्म शब्द का अर्थ-व्याकरण शास्त्र का कर्म शब्द या समयसार में प्रयुक्त कर्म शब्द या गीतादि अन्य ग्रन्थों में प्रयुक्त कर्म शब्द या लोकव्यवहार में प्रयुक्त खटकर्म नहीं है, बल्कि करणानुयोगसम्मत कार्मण वर्गणाओं के कार्यरूप परिणत पुद्गल पिण्ड हैं; जिसके ज्ञानावरणादि मूल आठ भेद एवं १४८ उत्तरभेद हैं।

सजीव के साथ निर्जीव कर्म का बन्ध, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के साथ स्वयंसिद्ध है। संकटकाल में संकटग्रस्त मनुष्य भी कर्मबन्ध को स्वीकारता ही है।

कर्म की १० अवस्थाएँ – (१) बंध (२) सत्ता (३) उदय (४) उदीरणा (५) उत्कर्षण (६) अपकर्षण (७) संक्रमण (८) उपशांत (९) निधत्ति (१०) निकाचित होती हैं। इनके क्रम में वैज्ञानिकता भी दिखती है।

बंध हो तो सत्ता हो, सत्ता हो तो उदय हो, उदय हो तो ही उदीरणा हो आदि। इसीप्रकार उदय के द्वारा संक्रमण समझ में आता है। उदीरणा, संक्रमण रहित कर्म की अवस्था निधत्ति है तथा उदीरणा, संक्रमण,

उत्कर्षण, अपकर्षण रहित अवस्था निकाचित है।

करण का अर्थ कर्म की विशिष्ट अवस्था है।

पहला अधिकार : नक्षों में दस करण -

इस अधिकार में बंध करण आदि दसों करणों को नक्षों के माध्यम से सुलभ रीति से समझाने का प्रयास किया है। यदि पाठक उपयोग (ज्ञान) को सूक्ष्म करके समझने का प्रयत्न करेंगे तो केवलज्ञानगम्य विषय को अपने अल्पज्ञान द्वारा बहुत कुछ अंशों में समझ सकेंगे।

दूसरा अधिकार : बंध करण -

बन्ध करण कर्म की दस अवस्थाओं में से एक महत्त्वपूर्ण अवस्था है। बंध करण में द्रव्यबंध ग्राह्य है। बंध करण अनादि से है; अतः बंध तत्त्व भी अनादि से है। बंध करण और बंध तत्त्व में यही अन्तर है कि बंध करण करणानुयोग का विषय है। बंध तत्त्व द्रव्यानुयोग का विषय है।

आबाधाकाल भी कर्म की ही एक अवस्था है; परन्तु उसका समावेश बंध करण में न होने से उसे ग्यारहवाँ करण नहीं कहा है। दूसरा तर्क यह भी है कि करणानुयोग अहेतुवादी शास्त्र है।

वेदना आदि सात प्रकार के समुद्घात काल में भी नवीन कर्म का बंध होता है। शुद्धोपयोगरूप ध्यानावस्था में भी विद्यमान कषाय के अनुपात में नया बंध होता ही रहता है।

बंध करण के बाद ही कर्म की सत्ता है। **दस करणों में बंध करण ही एकमात्र मुख्य करण है। इसलिए यह बंध करण प्रथम क्रमांक पर है।**

यह कर्म दो, चार, छह, आठ, एक सौ छियालीस प्रकार का विविध अपेक्षाओं से है। इनमें मुख्य चार हैं - ज्ञानावरणादि प्रकृतिबंध है; एक समय में बँधे हुए कर्म परमाणु प्रदेशबन्ध है; उन कर्मों की स्थिति स्थितिबंध है; कर्मों की फल देने की शक्ति अनुभागबन्ध है।

एक समय में ग्रहण किये हुए कर्मपरमाणु स्वतः ही ज्ञानावरणादि रूप से परिणमन करते हैं। जैसे ग्रहण किया हुआ भोजन रक्तादिरूप से स्वतः ही परिणमन करता है। उन परमाणुओं के बटवारे का एक निश्चित गणित है, उसके अनुसार वे कर्म-परमाणु अपने आप विभाजित होते

हैं। सबसे अधिक वेदनीय कर्म में तथा सबसे कम, आयु के बट में आते हैं।

न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त से ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक कर्मों का बंध काल होता है। आयु कर्म का बन्ध सदाकाल नहीं होता। उसके बन्ध का नियम यह है कि देवताओं की आयुबन्ध भुज्यमान आयु के अन्त में छह माह में होता है। इसीप्रकार नारकियों का भी आयुबन्ध अन्त के ६ माह में जानना।

अस्थाई भोगभूमिया जीवों के अन्तिम नौ माह में तथा कर्मभूमि के जीवों का आयु के त्रिभाग के आठ अपकर्षकालों में या अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में आयुबन्ध होता है।

ज्ञान में बाधा उत्पन्न करने के परिणाम से बद्ध कर्म, ज्ञान में बाधक के रूप में ही फल देता है। गुणस्थानों के अनुसार कर्मबन्ध की व्युच्छिति होती है।

बन्ध, किसी गुणस्थान में; उदय, किसी गुणस्थान तक होता है। जैसे मनुष्य की आयु का बन्ध चौथे गुणस्थान तक; उदय १४वें गुणस्थान तक होता है।

तीसरा अधिकार : सत्त्व करण -

कर्म की सत्ता होगी तो ही वह कर्म फल देने में, उदय में आने में समर्थ होगा। कर्म की सत्ता संक्रमित होकर भी उदय में आ सकती है। कर्म का फल हीनाधिक भी हो सकता है। इस व्यवस्था के बिना मुक्ति भी संभव नहीं है।

पुण्यप्रकृति, स्वजातीय पाप प्रकृति में तथा पापप्रकृति, स्वजातीय पुण्यप्रकृति में बदल कर फल दे सकती है। वर्तमान में भाव सही न हो तो पूर्व का पुण्य तथा वर्तमान का भाव सही हो तो पूर्व का पाप, व्यर्थ होते हैं।

बन्ध की तरह सत्त्व चार प्रकार का है - प्रकृतिसत्त्व, प्रदेशसत्त्व, स्थितिसत्त्व और अनुभागसत्त्व।

बँधे हुए कर्म, जब तक उदय में नहीं आते अथवा ज्यों के त्यों बद्धरूप में बने रहते हैं, तब तक उस अवस्था को सत्ता या सत्त्व कहते हैं।

चौदह गुणस्थानों में नाना जीवों की अपेक्षा १४८ की तथा एक जीव की अपेक्षा विविध कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है। सिद्धजीव, कर्मों से रहित होते हैं।

चौथा अधिकार : उदय करण -

निषेक क्रम से कर्म के फल देकर या अत्यल्प फल देकर खिर जाने को उदय कहते हैं। कर्म के उदयानुसार कार्य (संयोग) होता है - यह व्यवहारनय का कथन है। जड़ होने से कर्म बलवान नहीं, बल्कि जीव का भाव बलवान होता है। कर्म बांधी गई स्थिति के अनुसार उदय में आयेगा - ऐसा नियम नहीं है। जीव के परिणामों के निमित्त से कर्म का उपशम अथवा उदीरणा भी हो सकते हैं। क्षयोपशम भी हो सकता है। क्षयोपशम मात्र (चार) घातिकर्मों में ही होता है।

उदय दो प्रकार से होता है - (१) स्वमुख उदय और (२) परमुख उदय।

विशिष्ट प्रकृति का स्व रूप से उदय होने को स्वमुख उदय कहते हैं। जैसे - ज्ञानावरण कर्म का ज्ञानावरणकर्म के रूप में उदय होने को स्वमुख उदय कहते हैं। (संक्रमण-योग्य) प्रकृति का (स्तिबुक आदि संक्रमण पूर्वक) अन्यप्रकृति के रूप में परिवर्तित होकर उदय में आने को परमुख उदय कहते हैं।

जैसे - तिर्यच गति नामकर्म की प्रकृति का संक्रमण होकर मनुष्य गति नामकर्म के रूप में होकर उदय में आने को परमुख उदय कहते हैं।

उदय को स्वीकार नहीं करेंगे तो औदयिकभाव का अभाव सिद्ध होगा।

उदय से जीव को घबराना नहीं चाहिए; क्योंकि कर्म प्रकृति में उदयकरण के अलावा उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा और उपशम भी होते हैं।

उदय के बाद, कर्म की निर्जरा निश्चित ही होती है। जीव, उदय में जुड़ान करे तो उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। जीव, उदय में जुड़ान न करे तो उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। जीव से कर्मों के संयोग के

अभाव को क्षय कहते हैं।

उदय चार प्रकार का भी है - (१) प्रकृति उदय (२) प्रदेश उदय (३) स्थिति उदय और (४) अनुभाग उदय।

जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्मों का फल देकर या अत्यल्प फल देकर खिर जाने को प्रदेश उदय कहते हैं। कर्मप्रकृतियों के खिर जाने को प्रकृति उदय कहते हैं। कर्म की स्थिति के क्षीण होने को स्थितिउदय कहते हैं। उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्यरूप से रस देकर कर्म के खिर जाने को अनुभाग उदय कहते हैं।

१. उदययोग्य प्रकृतियाँ १२२ हैं।

२. उदय को स्वीकार करना अर्थात् निमित्त को स्वीकार करना मात्र है।

३. उदय सदाकाल एकसा नहीं होता।

४. उदय को स्वीकार करने पर ही सभी लौकिक व्यवहार माने जाते हैं। जैसे - पुण्य के उदय से धन प्राप्ति का व्यवहार माना जाता है।

५. उदयकरण अतिविशिष्ट करण है।

पाँचवाँ अधिकार : उदीरणा करण -

१. धवलाकार के अनुसार अपक्व के पाचन को उदीरणा कहते हैं।

२. ऊपर के कर्म के निषेक, जीव के भावों का निमित्त पाकर उदयावली में आकर उदयरूप हों, उसे उदीरणा कहते हैं।

जैसे - आम के हरे रंग के परमाणु समय पाकर कुछ समय बाद पीले होते, वे पाल का निमित्त पाकर कुछ समय पहले (उदीर्ण होकर) पीले हो गए, उसे उदीरणा कहते हैं।

प्रत्येक कर्म की उदीरणा के बाह्य निमित्त भी होते हैं। जैसे - निद्रा दर्शनावरणीय कर्म की उदीरणा का बाह्य निमित्त दही आदि का सेवन; गरिष्ठ भोजन का सेवन आदि।

उदय और उदीरणा में यही अन्तर है कि कर्म का स्वकाल में उदय होना, उदय है तथा समय से पूर्व उदय में आना, उदीरणा है।

उदीरणा के भी चार भेद हैं - (१) प्रकृति-उदीरणा (२) प्रदेश-

उदीरणा (३) स्थिति-उदीरणा और (४) अनुभाग-उदीरणा। कर्म की प्रकृति की उदीरणा को प्रकृति-उदीरणा; कर्म के प्रदेशों की उदीरणा को प्रदेश-उदीरणा; कर्म की स्थिति की उदीरणा को स्थिति-उदीरणा; कर्म के अनुभाग की उदीरणा को अनुभाग-उदीरणा कहते हैं।

१. कर्मबन्ध के पश्चात् कर्मस्कन्ध, आवली काल तक उदीरणा के अयोग्य होता है।
२. उदीरणा के लिए उस प्रकृति का उदय जरूरी है।
३. उदय अन्य गुणस्थान तक तथा उदीरणा अन्य गुणस्थान तक भी होते हैं। जैसे - साता, असाता, मनुष्यायु का उदय तो १४वें गुणस्थान तक होता है; परन्तु इनकी उदीरणा ६वें गुणस्थान तक ही होती है।

छठवाँ अधिकार : उत्कर्षण-अपकर्षण करण -

१. जीवों के भावों का निमित्त पाकर कर्मों की पूर्व स्थिति एवं अनुभाग में बढ़ोतरी होना, उत्कर्षण है। २. कर्मों की पूर्व स्थिति एवं अनुभाग में घटोतरी होना, अपकर्षण है।
३. उत्कर्षण होने पर कर्म अपने नियत (पूर्वबद्ध) काल से अधिक समय तक उदय में रहता है तथा उसका अनुभाग भी बढ़ता है।
४. अपकर्षण होने पर कर्म, अपने नियत (पूर्वबद्ध) अनुभाग से कम समय तक उदय में रहता है तथा उसका अनुभाग भी घटता है।
५. उत्कर्षण एवं अपकर्षण सिर्फ स्थिति एवं अनुभाग में ही होते हैं; प्रकृति एवं प्रदेश में नहीं।

(शुभ) मन्दकषाय परिणामों से शुभ प्रकृतियों का स्थिति, अनुभाग बढ़ता है। (अशुभ) तीव्रकषाय परिणामों से शुभ प्रकृतियों के स्थिति, अनुभाग घटते हैं। (शुभ) मन्द परिणामों से अशुभ प्रकृतियों का स्थिति, अनुभाग घटता है। (अशुभ) तीव्र परिणामों से अशुभ प्रकृतियों के स्थिति अनुभाग बढ़ते हैं। उत्कर्षण, अपकर्षण के लिए विशेष परिणामों का होना आवश्यक है। सामान्य परिणामों में उत्कर्षण, अपकर्षण संभव नहीं है।

उदयावली के प्रदेशों का उत्कर्षण या अपकर्षण नहीं होता है।

उदयावली के बाहर स्थित-प्रदेशों (कर्मों) का उत्कर्षण या अपकर्षण होता है।

१. उत्कर्षण या अपकर्षण आठों ही कर्मप्रकृतियों में होता है।
२. अपकर्षण तेरहवें गुणस्थान तक होता है।
३. बद्ध (बन्ध को प्राप्त) कर्मों में एक आवली काल तक अपकर्षण नहीं होता।
४. अप्रशस्त उपशम, निधत्ति, निकाचित अवस्थाओं को प्राप्त कर्मपरमाणुओं का अपकर्षण नहीं होता।
५. भुज्यमान आयु में अपकर्षण हो सकता है, उत्कर्षण नहीं।
६. अनिवृत्ति करण (परिणामों) के द्वारा उदयावली के बाहर स्थित अप्रशस्त उपशम आदि रूप कर्मपरमाणुओं में उत्कर्षण, अपकर्षण संभव है।
७. निषेक के कुछ परमाणुओं में ही अपकर्षण होता है, सभी में नहीं।
८. आदि (प्रथम) स्पर्धक का अपकर्षण नहीं होता।

सातवाँ अधिकार : संक्रमण करण -

१. किसी विशिष्ट प्रकृति के परमाणु, किसी दूसरी प्रकृति के रूप में बदलें, उसे संक्रमण कहते हैं।
जैसे - मतिज्ञानावरण के परमाणु श्रुतज्ञानावरण के रूप में बदले तो इसे संक्रमण कहते हैं।
२. सजातीय का सजातीय में संक्रमण होता है, विजातीय में नहीं।
३. आयुर्कर्म में संक्रमण नहीं होता।
यह संक्रमण चार प्रकार का है - (१) प्रकृति (२) प्रदेश (३) स्थिति और (४) अनुभाग।
४. एक प्रकृति का अन्य प्रकृतिरूप होना, प्रकृति संक्रमण है।
५. विशिष्ट प्रदेशों का अन्य प्रदेशोंरूप होना, प्रदेश संक्रमण है।
६. कर्मों की स्थिति का उत्कर्षित या अपकर्षित होना, स्थिति

संक्रमण है।

७. कर्मों के अनुभाग का उत्कर्षित या अपकर्षित होना, अनुभाग संक्रमण है।

यद्यपि सजातीय कर्म में संक्रमण होता है। पर उसमें भी अपवाद हैं, दर्शन-मोहनीय का चारित्र-मोहनीय में संक्रमण नहीं होता है तथा चारित्र-मोहनीय का दर्शन-मोहनीय में संक्रमण नहीं होता है। मूल प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता है। जैसे ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्मरूप नहीं होता। इसीप्रकार चारों आयु परस्पर सजातीय होने पर भी एक आयु का दूसरी आयुकर्म में संक्रमण नहीं होता।

उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण होता है। यह संक्रमण पाँच प्रकार का है - (१) उद्वेलन (२) विध्यात (३) अधःप्रवृत्त (४) गुण और (५) सर्वसंक्रमण।

आठवाँ अधिकार : उपशान्त करण -

१. उपशान्तकरण को कहीं-कहीं उपशमनाकरण भी कहा है।
२. उपशान्तकरण आठों ही कर्मों में होता है।
३. उपशान्तकरण का काल अति अल्प भी हो सकता है।

जीव को मुक्ति प्राप्त कराने में उपशम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। “उपशम का पड़ाव वीतरागता और निर्विकल्पता की झाँकी दिखानेवाला पड़ाव है।”^१ ज्ञानावरणादि कर्म (द्रव्य) की जितने काल तक उदीरणा नहीं होती, उतने काल तक उपशान्त करण कहलाता है।

अथवा विशिष्ट प्रकृति के निषेक, जो उदयावली के बाहर हैं; उनका उदयावली में आने के अयोग्य होना ही उपशान्तकरण है।

कर्म की प्रथम तथा द्वितीय स्थिति को छोड़कर अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थिति के मध्यकालीन निषेकों के अभाव करने को अन्तरकरण उपशम

कहते हैं।

जैसे - अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिवाले मिथ्यात्वकर्म के निषेकों को उनके स्थान से हटाकर कुछ को (नीचे की) प्रथम स्थिति वाले निषेकों में मिला देना, कुछ को द्वितीय स्थिति सम्बन्धी निषेकों में मिला देने से कर्मों का जो अभाव हुआ, वह अन्तरकरणरूप उपशम हुआ।

इसप्रकार के उपशम में कर्मनिषेकों को आगे-पीछे उदय आने-योग्य किये जाते हैं।

आगामी काल में उदय आने-योग्य कर्मनिषेकों को सत्ता में रहने योग्य (उदय, उदीरणा के अयोग्य) करना, सदवस्थारूप उपशम है।

उपशम भाव तथा उपशान्त करण में अन्तर यह है कि उपशमभाव मात्र मोहनीय कर्म का ही होता है। उपशान्त करण सब प्रकृतियों में होता है। उपशमभाव ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

करणानुयोग में उपशम का अर्थ अनुदय अर्थात् उदय के लिए अयोग्य करना है।

(१) प्रशस्त (२) अप्रशस्त नाम से उपशम दो प्रकार का है।

अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा मोहनीयकर्म का जो उपशम होता है, उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। प्रशस्त उपशम मात्र मोहनीयकर्म में ही होता है।

जीव के परिणामों से कर्म की उदीरणा तथा उदय के अयोग्य होना, अप्रशस्त उपशम है।

उपशान्त करण को प्राप्त कर्म के परमाणुओं में उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण हो सकते हैं; परन्तु उदय, उदीरणा नहीं।

अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान के प्रथम समय में सभी कर्मों के उपशान्त, निधत्ति, निकाचित - ये तीनों करण नष्ट होते हैं।

नौवाँ अधिकार : निधत्ति-निकाचितकरण -

कर्मप्रकृति के परमाणुओं का संक्रमण तथा उदीरणा के अयोग्य

होने को निधत्ति करण कहते हैं। इसमें उत्कर्षण, अपकर्षण सम्भव है।

कर्मप्रकृति के परमाणुओं का संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण के अयोग्य होने को निकाचित करण कहते हैं।

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग के भेद से ये दोनों, चार-चार प्रकार के हैं।

ये दोनों करण, आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होते हैं।

ये दोनों करण, सभी प्रकृतियों में संभव हैं।

इसप्रकार इस पुस्तक का यह सारांश है। विस्तार मूल से ही पठनीय है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन के निमित्त से दस करण का मेरा भी अध्ययन हुआ, जो परिणामों की विशुद्धि में निमित्त बना। यह अवसर प्रदान करने के लिए मैं ट्रस्ट का आभारी हूँ।

आशा करता हूँ, पाठक इनके अध्ययन से कर्म की सच्ची स्थिति समझकर भेदविज्ञान द्वारा अपनी शक्ति प्रगट कर शीघ्र ही बन्धमुक्त होंगे - इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

● करणानुयोग के विशिष्ट विद्वान् के रूप में ख्याति प्राप्त ब्र. यशपालजी जैन मुमुक्षु समाज में अण्णाजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपके द्वारा कर्मों के दशकरणों के सम्बन्ध में लिखित पुस्तक का प्रथम संस्करण जनवरी, २०१३ में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत कृति को पुनः संशोधित एवं सम्पादित करने हेतु ब्र. यशपालजी ने मुझे निवेदन किया।

वर्ष २०१४ के अन्त में ब्र. यशपालजी के साथ बैठकर प्रतिदिन जय धवला ग्रन्थ के स्वाध्याय का क्रम चल रहा था। अचानक एक दिन सहज ही ब्रह्मचारीजी ने अपनी प्रकाशित कृति 'जीव जागा कर्म भागा' के पुनरावलोकन एवं संशोधन का प्रस्ताव रखा। तत्पश्चात् उनके निवेदन पर उन्हीं के साथ बैठकर इस कृति में प्रयुक्त विविध विषयों पर विचार-विमर्श करते हुए मैंने इस कृति के संशोधन एवं सम्पादन का कार्य प्रारंभ किया।

पूर्व प्रकाशित कृति का नाम 'जीव जीता कर्म हारा' था। वस्तुतः जीव एवं कर्म दोनों अलग-अलग द्रव्य हैं। दोनों ही अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं। दोनों में कोई युद्ध नहीं होता; अतः हार-जीत का कोई प्रसंग ही नहीं है। यह जीव जब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचानता अर्थात् जब तक जागृत नहीं होता तब तक कर्म का बन्ध/उदय आदि तीव्र होने से संसार परिभ्रमण होता रहता है। किन्तु जब यह जीव अपने स्वरूप में जागृत होता है, तब स्वयमेव ही कर्म भाग जाते हैं। इसी वस्तु स्थिति को ध्यान में रखकर प्रस्तुत कृति का नाम बुद्धिपूर्वक बदलकर 'जीव जागा कर्म भागा' रखा गया है।

प्रस्तुत कृति में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में दस करणों की चर्चा नक्शों के माध्यम से बहुत सरलता से की गयी है। दूसरे से नौवें अध्याय तक बन्ध आदि दस करणों को पृथक-पृथक अध्याय में आगमाश्रित प्रश्नोत्तर, भावदीपिका चूलिका एवं आगमगर्भित प्रश्नोंत्तरों के माध्यम से सप्रमाण सरलता से समझाया गया है। उत्कर्षण-अपकर्षण को एक ही अध्याय में तथा निधत्ति-निकाचित करण को भी विषय की समानता होने से एक ही अध्याय में गर्भित किया है।

अपकर्षण व अपवर्तन में मार्मिक ढंग से अन्तर बताया है। तथा उपशान्त व उपशम के अन्तर को बहुत ही सुन्दर ढंग से चार्ट बनाकर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

सम्पादन के दौरान धवला, कषाय पाहुड-महाबंध, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, भावदीपिका, सुदृष्टितरंगिणी आदि ग्रन्थों को ध्यान में रखकर कृति को प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया गया है। अनेक स्थानों पर विविध आगम प्रमाणों को मूल प्रतियों से मिलान कर फुटनोट के रूप में प्रस्तुत किया है।

किसी भी विषय को समझने के लिये चित्रात्मक पद्धति बहुत सशक्त माध्यम है। रेखाचित्र आदि के माध्यम से विषय का स्वरूप पाठक के मस्तिष्क में अंकित हो जाता है। हमने इस कृति में पाठकों को सरलता से

समझने के लिए कृति में प्रयुक्त नक्शों में आवश्यक सुधार करके सम्पादन के दौरान उन्हें नये रूप में प्रस्तुत किया है।

इससे पूर्व कर्मों के बंध आदि १० करणों के संबंध में इतनी व्यवस्थित पुस्तक कहीं देखने को मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यह कृति अपने विषय की अपने आप में अद्वितीय रचना है। यद्यपि बंध आदि करणों के संदर्भ में शास्त्रों में यत्र-तत्र बहुत स्थानों पर चर्चाएँ आई हैं, किन्तु रेखाचित्रों के प्रयोग ने इसमें नवीनता ला दी है।

दशकरणों सम्बन्धी विषय को सभी सरलता से कण्ठस्थ कर सकें इसके लिए विषय को नम्बर डालकर, पाइंट बना-बनाकर व्यक्त किया है।

जीव का साक्षात् प्रयोजन तो अध्यात्म से ही सधता है। अध्यात्म रुचिवंत मुमुक्षु समाज में बहुत लोग तो करणानुयोग के विषयों को प्रयोजन शून्य कहते हैं, उन्हें ये विषय अध्यात्म रहित होने से नीरस लगते हैं। अतः स्थान-स्थान पर अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये अध्यात्म के रहस्यों को खोलने का प्रयास किया है।

सम्पादन के दौरान एक दिन अचानक ही ब्र. यशपालजी ने इस कृति के मंगलाचरण के संबंध में भी विचार व्यक्त किया। मुझसे कहा कि “मैं चाहता हूँ, इस कृति में मंगलाचरण भी होना चाहिये, आप लिखोगे तो उत्तम रहेगा, अन्यथा णमोकार मंत्र, मंगलं भगवान वीरो.. या छहढाला ग्रन्थ का मंगलाचरण देंगे।” उसी रात्रि को बैठकर मैंने मंगलाचरण लिख दिया और दूसरे दिन ब्रह्मचारीजी को सुनाया। उन्होंने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। इसप्रकार कृति के सम्पादन के साथ-साथ मंगलाचरण लिखने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ।

यद्यपि इस सम्पादन कार्य में मेरे द्वारा बहुत सावधानी रखने का प्रयास किया गया है, तथापि क्षयोपशम ज्ञान होने से किसी भी प्रकार की चूक रह जाने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। हम आशा करते हैं कि विज्ञ पाठक उसे सुधारकर पढ़ेंगे एवं उससे हमें अवगत करायेंगे। ●

मनोगत

मुझे विगत अनेक वर्षों से करणानुयोग से सम्बन्धित “गुणस्थान” विषय के आधार से कक्षा लेने का सौभाग्य विभिन्न शिक्षण शिविरों के माध्यम से मिल रहा है।

प्रारम्भ में तो मात्र श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा जयपुर में आयोजित शिविर में ही यह कक्षा चला करती थी; लेकिन श्रोताओं की बढ़ती हुई जिज्ञासा एवं माँग को देखते हुए अब प्रत्येक शिविर की यह एक अनिवार्य कक्षा बनी हुई है।

मैं प्रवचनार्थ जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ गुणस्थान प्रकरण को समझाने का आग्रह होने लगता है। श्रोताओं की इसप्रकार की विशेष जिज्ञासा ने मुझे इस विषय की ओर अधिक अध्ययन हेतु प्रेरित किया है।

गुणस्थानों को पढ़ते समय कर्म की बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि अवस्थाओं को समझाना प्रासंगिक होता है।

कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हीं को करण कहते हैं। इन दस करणों को समझाते समय मुझे प्रतीत हुआ कि इस संबंध में स्पष्ट और अधिक ज्ञान करना आवश्यक है।

अनेक विद्वानों से चर्चा करने पर किंचित समाधान भी होता था; फिर भी कुछ अस्पष्टता बनी रहती थी। इसकारण पुनः पुनः इन दस करणों को सूक्ष्मता से समझने का मैं प्रयास करता रहा। उस प्रयास की परिणति यह दस करण की कृति है।

अभी भी मैं कुछ सूक्ष्म विषयों में निर्मलता चाहता हूँ। हो सकता है, यह कृति करणानुयोग के अभ्यासी विद्वानों के अध्ययन का विषय बनेगी तब वे मुझे समझायेंगे तो मुझे लाभ ही होगा। मुझे आशा है विद्वत् वर्ग मुझे अवश्य सहयोग देगा।

१. दस करणों को समझने के प्रयास के काल में मैंने भीण्डर निवासी पण्डित श्री जवाहरलालजी की कृति करणदशक देखी।
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड की हिन्दी टीकाएँ, जो अनेक संस्थाओं से एवं भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से संपादित हैं हूँ उनको भी देखा।
३. दस करणों को समझने के लोभ से ही दस करणों के संबंध में पुराने विद्वानों ने जो स्वतंत्र लेखन किया है, उसे भी देखा हूँ उनमें सुदृष्टितरंगिणी एवं भावदीपिका भी सम्मिलित है।
४. आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि की कृति कर्मविज्ञान से भी लाभ लिया है।
५. ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी का कर्मरहस्य, कर्मसिद्धान्त, कर्मसंस्कार आदि का अच्छा लाभ मिला है।
६. पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारसवालों की करणानुयोग प्रवेशिका का भी उपयोग किया है।

करणानुयोग का कर्म विषय ही ऐसा है, जिसे यथार्थरूप से तो सर्वज्ञ भगवान ही जान सकते हैं। इस कारण ही कुछ विषयों को लेकर बड़े-बड़े आचार्यों में भी किंचित् मतभेद पाया जाता है। वे भी क्या कर सकते हैं? जिनको अपनी गुरु परंपरा से जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उन्होंने उसी को स्वीकार किया।

जीवादि सात तत्त्वों में ऐसा मतभेद नहीं होता; क्योंकि सप्त तत्त्व तो प्रयोजनभूत तत्त्व हैं और उनका कथन स्पष्ट है। उनके यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

मेरे जीवन का बहुभाग काल धर्म के अध्ययन और अध्यापन में ही गया है; तथापि अनेक वर्षों तक कर्म बलवान है, इस धारणा ने मुझे अत्यन्त परेशान किया था। ऐसी परेशानी अन्य साधर्मियों को न हो; इस भावना से भी मैंने बुद्धिपूर्वक इस कृति के प्रकाशन में रस लिया है।

एक दृष्टि से धर्मज्ञान के क्षेत्र में जो मैं समझ पाया, उसी का ही चित्रण इस कृति में है, कपोल-कल्पित कुछ नहीं है। मैं धर्मक्षेत्र में कपोल-कल्पित विषय को स्वीकार करना भी नहीं चाहता; क्योंकि वह उचित भी नहीं है। सर्वज्ञ भगवान के उपदेशानुसार जो है, वही मान्य है।

मैं अपना भाव स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा अध्ययन तो विशेष नहीं है फिर भी मैंने मात्र अपने उपयोग को निर्मल रखने के लिए तथा तत्त्वनिर्णय में अनुकूलता बनी रहे, इस धर्मभावना से दस करणों के संबंध में कुछ लिखने का प्रयास किया है। विज्ञ पाठक गलतियों की क्षमा करेंगे और मुझे मार्गदर्शन करेंगे - ऐसी अपेक्षा करता हूँ।

इस कृति को यथार्थ बनाने की भावना से मैंने अनेक लोगों को इसे दिखाया है और उनके सुझावों का लाभ भी उठाया है। उनमें पं. राजमलजी भोपाल, पं. प्रकाशजी छाबड़ा इन्दौर, विदुषी विजया भिसीकर कारंजा, ब्र. सुजाताजी एवं पं. जीवेन्द्रजी जड़े बाहुबली (कुंभोज), ब्र. विमलाबेन जबलपुर, ब्र. कल्पनाबेन सागर, पं. अरुणकुमार जैन अलवर, पं. डॉ. संजीवकुमारजी गोधा जयपुर, पं. श्रेयांसजी बीना, पं. पद्मकुमारजी कटारिया, केकड़ी एवं पं. रूपचन्द्रजी बंडा हैं। मैं इन सबका हृदय से आभार मानता हूँ। इनके सहयोग के बिना इस कृति का प्रकाशन संभव नहीं था।

साधर्मियों इस कृति से लाभ उठा लेंगे, ऐसी अपेक्षा है। जिनागम के अभ्यासु पाठकगण इस कृति का अवलोकन करके मुझे आगम के आधार से मार्गदर्शन करेंगे ही यह भावना है।

दस करण विषय को विशेष विस्तार के साथ जानने की जिनकी भावना हो, वे इस पुस्तक का जरूर अध्ययन करें।

गुणस्थानानुसार दसकरण

करण → गुणस्थान ↓	१. बन्ध	२. उत्कर्षण	३. संक्रमण	४. अपकर्षण	५. उदीरण	६. सत्त्व	७. उदय	८. उपशांत	९. निधत्ति	१०. निकाचित
१. मिथ्यात्व	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ
२. सासादन	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
३. मिश्र	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
४. असंयत	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
५. देशविरत	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
६. प्रमत्त	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
७. अप्रमत्त	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
८. अपूर्व	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
९. अनिवृत्ति	”	”	”	”	”	”	”	नहीं	नहीं	नहीं
१०. सूक्ष्म	”	”	”	”	”	”	”	नहीं	नहीं	नहीं
११. उपशान्त	”	”	”	”	”	”	”	नहीं	नहीं	नहीं
१२. क्षीण	”	”	नहीं	”	”	”	”	नहीं	नहीं	नहीं
१३. सयोग	”	”	नहीं	”	”	”	”	नहीं	नहीं	नहीं
१४. अयोग	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	”	”	नहीं	नहीं	नहीं

मूलप्रकृतियों में दसकरण

कर्म ↓ करण →	बन्ध	उत्कर्षण	संक्रमण	अपकर्षण	उदीरण	सत्त्व	उदय	उपशांत	निधत्ति	निकाचित
१. ज्ञानावरण	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ
२. दर्शनावरण	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
३. वेदनीय	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
४. मोहनीय	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
५. आयु	”	”	नहीं	”	”	”	”	”	”	”
६. नाम	”	”	हाँ	”	”	”	”	”	”	”
७. गोत्र	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”
८. अन्तराय	”	”	”	”	”	”	”	”	”	”

गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४४४ के आधार से -

विषय-प्रवेश

‘कर्म’ इस शब्द से सामान्य जन परिचित तो हैं; तथापि कर्म शब्द का प्रयोग अनेक विषयों का प्रतिपादक है, इस संबंध में कुछ कम ही विचार किया जाता है। इसलिए यहाँ हम कुछ खुलासा कर रहे हैं।

जो मनुष्य सामान्यरूप से पढ़ाई करता है तो वह कम से कम इतना तो जानता ही है कि एक वाक्य में तीन विभाग होते हैं - एक कर्ता दूसरा कर्म और तीसरी क्रिया। इन तीनों के बिना वाक्य नहीं बनता। इसतरह व्याकरण शास्त्रानुसार प्रत्येक वाक्य में कर्म होता है, जिसकी द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे राम ने लक्ष्मण को समझाया। इस वाक्य में राम, कर्ता है; लक्ष्मण, कर्म है और समझाया, यह क्रिया है।

१. यहाँ इस कृति में व्याकरण वाले कर्म से कुछ संबंध नहीं है।

कर्म शब्द का उपयोग ग्रंथाधिराज समयसार शास्त्र में बहुत जगह आता है। समयसार में कर्ता-कर्म अधिकार नाम का एक स्वतंत्र अधिकार भी है। वहाँ तो द्रव्य को कर्ता और द्रव्य का जो परिणमन वह कर्म अथवा गुण को कर्ता और गुण का जो परिवर्तन/परिणमन होता है, उसे कर्म कहते हैं। द्रव्य व्यापक होता है और उसका परिणमन व्याप्य कहलाता है, उस व्याप्य को भी कर्म कहते हैं।

२. यहाँ इस कृति में समयसार में समागत कर्म से भी कुछ संबंध नहीं है।

भगवत् गीता वैदिक सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भगवत् गीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम भावना से कर्म/कार्य/कर्तव्य करते रहो, फल की अपेक्षा मत रखो; ऐसा उपदेश दिया है।

३. गीता में समागत कर्म से भी इस कृति का कुछ संबंध नहीं है।

१. समयसार कलश, क्रमांक-४९

एक दूसरे के साथ झगड़ा करने वाला तीव्र कषायी मनुष्य भी कहता है - “मैं तुम्हारे सब खटकर्म (पाप/अनुचित कार्य/निंदित कार्य) जानता हूँ। मुँह खोलूँगा तो पता चलेगा। चुप बैठने में ही तुम्हारी भलाई है।”

४. ऐसे प्रकरण में जो कर्म शब्द आता है, उससे भी यहाँ संबंध नहीं है।

यहाँ सर्वज्ञ/केवली भगवान के दिव्यध्वनि में अथवा जिनेन्द्र कथित आगम/शास्त्र में जो कर्म शब्द आता है, मात्र उससे ही प्रयोजन है, जिसके ज्ञानावरणादि आठ भेद कहे जाते हैं और कार्मणवर्गणा रूप कर्म की विशिष्ट अवस्था को करण कहते हैं।

कर्म की परिभाषा निम्नानुसार है - “जीव के मोह, राग, द्वेषादि परिणामों के निमित्त से स्वयं परिणमित कार्मणवर्गणारूप पुद्गल की विशिष्ट (जीव के साथ, एकक्षेत्रावगाही) अवस्था को कर्म कहते हैं।”

ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमित होने-योग्य वर्गणाओं (पुद्गल स्कन्धों) को कार्मणवर्गणा कहते हैं।

जिनेन्द्र-कथित ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की बंध, सत्त्व आदि दस अवस्थाएँ होती हैं। उन दस अवस्थाओं को यहाँ जानने का हमारा प्रयोजन है।

कर्मबन्ध के अस्तित्व संबंधी ‘कर्मविज्ञान’ ग्रन्थ का अंश अनुकूल लगा; जो इसप्रकार है -

“सजीव - निर्जीव वस्तुओं का परस्पर बन्ध : प्रत्यक्षगोचर -

संसार में सर्वत्र १. ईंट, सीमेंट आदि पदार्थ-मकान के रूप में बंधे हुए प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। २. अनेक कागजों को परस्पर मिलाकर, उन्हें सिलकर और चिपका कर पुस्तक की जिल्द बाँधी जाती है; यह कागजों का परस्पर बन्ध भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार ३. एक जमींदार के घर में घोड़ा, गाय, भैंस आदि पशु रस्सी के द्वारा खूंटों से बंधे हुए नजर आते हैं। ४. आटा, पानी आदि मिल कर गूँथने से एक

पिण्ड बंध जाता है और उसकी रोटी बनती हुई हम देखते हैं। इसी प्रकार संसार में अगणित चीजें बंधी हुई प्रत्यक्ष मालूम होती हैं।

यही नहीं, अध्यापक, अध्यापन-कार्य से; वकील, वकालत के पेशे से; व्यापारी अपने मनोनीत पदार्थ के व्यापार से; किसान, कृषि से और चिकित्सक, चिकित्सा-कार्य से बंधे होते हैं। माँ, अपनी संतान के पालन-पोषण के लिए बंधी होती है। इसी प्रकार कई लोग अमुक-अमुक सजीव (परिवार, समाज आदि के सदस्यों) तथा निर्जीव (धन, सम्पत्ति, मकान, दुकान, कार, बंगला आदि) पदार्थों (द्रव्यों) के प्रति ममत्ववश बंधे होते हैं। अधिकांश लोग अमुक-अमुक क्षेत्र (ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि) के प्रति मोहवश बंधे रहते हैं।

कई लोग अमुक काल से बंधे होते हैं। दफ्तर, दुकान, सर्विस आदि पर पहुँचने के लिए वे समय से बंधे होते हैं।

इसी प्रकार कई वस्तुएँ भी समय से बंधी होती हैं; जैसे - रेलगाड़ी, बस, विमान, रेडियो-प्रसारण, टाईमबम आदि।

संसार में विवाहित स्त्री-पुरुष प्रणयभाव से, माता-पुत्र वात्सल्यभाव से, गुरु-शिष्य उपकार्य-उपकारक भाव से तथा नौकर-मालिक, स्वामी-सेवक भाव से बंधे हुए होते हैं। इस प्रकार विभिन्न कोटि के व्यक्ति परस्पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से परस्पर सम्बद्ध और प्रतिबद्ध देखे जाते हैं।

आत्मा के साथ कर्मों के बन्ध के विषय में शंकाशील मानव -

ये सब वस्तुएँ एक दूसरे के साथ बन्धन के रूप में प्रत्यक्ष बद्ध दिखाई देती हैं; किन्तु जीव (आत्मा) के साथ कर्मबन्ध, चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता; इस कारण कतिपय नास्तिक, अविश्वासी, अश्रद्धालु तथा संशयशील मस्तिष्क वाले व्यक्ति कर्मबन्ध का अस्तित्व नहीं मानते। उनका कहना है - मिट्टी और पानी के सम्बन्ध से घट,

तन्तुओं के परस्पर सम्बन्ध से पट आदि की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध या बन्ध प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। फिर अमूर्त आत्मा (जीव) का मूर्त जड़ कर्मों से बन्ध कैसे हो सकता है? इन और ऐसे ही कुतर्कों के आधार पर वे लोग कर्मबन्ध का अस्तित्व मानने से इन्कार करते हैं।

संकटापन्न स्थिति में उनके द्वारा कर्मबन्ध का स्वीकार -

किन्तु वे ही महाशय अथवा पापकर्मी, स्वच्छन्दाचारी, नास्तिक, जब चारों ओर से किसी अपरिहार्य संकट, असह्य कष्ट, दुःसाध्य व्याधि अथवा किसी विपत्ति से घिर ही जाते हैं अथवा किसी स्वजन के वियोग से संतप्त होते हैं या पापकर्मग्रस्त व्यक्ति स्वयं कदाचित् मरणासन्न स्थिति में होते हैं। चारों ओर से हाथ-पैर मारने अथवा अनेक उपाय करने पर तथा पैसा पानी की तरह बहा देने पर भी जब उक्त संकट, कष्ट, रोग, संताप, विपत्ति एवं स्थिति आदि का निवारण नहीं होता, प्रश्न उलझता ही जाता है, तब वे ही लोग कर्मबन्ध के अस्तित्व को एक या दूसरे प्रकार से स्वीकार करते देखे गए हैं।”

अनादिकाल से आज तक अनन्त जीव सर्वज्ञ हो चुके हैं। उन सभी सर्वज्ञ भगवन्तों ने अपने दिव्यज्ञान से वस्तुस्वरूप को जाना है, तथा भूतकाल में हुये अनन्त तीर्थकरों ने अपनी दिव्यध्वनि में अनन्त जीवों के कल्याण के लिए जिस तत्त्व का कथन किया है तथा करते रहते हैं उसका नाम जिनधर्म/जैनधर्म है।

जिनधर्म के प्रमुख वक्ता सर्वज्ञ भगवान ही होते हैं; इसलिए जिनवाणी (ग्रन्थ) के मूल ग्रन्थकर्ता सर्वज्ञ ही कहलाते हैं - “अस्य मूल ग्रन्थकर्तारः सर्वज्ञदेवाः” - इसप्रकार शास्त्र-प्रवचन के प्रारंभ में कहते हैं; इसलिए जिनधर्म में असत्य कथन तो हो ही नहीं सकता। जिनेन्द्र भगवान के सच्चे अनुयायी को इस तरह की यथार्थ एवं दृढ़ श्रद्धा होती है।

‘सर्वज्ञ भगवान तो जिनधर्म का मूल है।’ सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में तो चारों अनुयोगों का कथन रहता है।

प्रथमानुयोग में मोक्षमार्गी अथवा मुक्तिप्राप्त महापुरुषों का पवित्र जीवन-चरित्र होता है; जिससे पात्र जीवों को अपना जीवन आदर्श बनाने के लिए प्रेरणा मिलती है। उसमें जीव का चरित्र प्रत्यक्ष होने के कारण इस अनुयोग का कथन सामान्यरूप से स्थूल रहता है। इस अनुयोग के अध्ययन से मनुष्य को अपने जीवन को पुण्यमय बनाने के लिए प्रेरणा मिलती है।

चरणानुयोग में मुख्यरूप से बाह्य आचरण की प्रधानता होने से खान-पान की, सदाचार की, पुण्यमय परिणामों की अधिकता रहती है; इसलिए चरणानुयोग के कथन में भी स्थूलता होती है। चरणानुयोग के अभ्यास से मनुष्य का जीवन सदाचारमय बनता है।

द्रव्यानुयोग में ९ पदार्थ, ७ तत्त्व, ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय तथा द्रव्य, गुण, पर्याय का बुद्धिगम्य कथन होता है। इसी अनुयोग में प्रत्येक जीव को निश्चयनय की अपेक्षा से, स्वभाव से भगवान कहा जाता है। सभी पात्र जीवों को वस्तु-स्वरूप का विषय समझ में आ जाय, जीवन में मोक्षमार्ग प्रगट हो, इस उद्देश्य से द्रव्यानुयोग में उपदेश रहता है; अतः कथन में स्थूलपना रहता है। इस अनुयोग का कथन उपादेय होते हुए भी स्थूल है।

अब रहा करणानुयोग का विषय। इस अनुयोग में असंख्यात द्वीप, असंख्यात समुद्र, अकृत्रिम जिनबिंब, जिन चैत्यालय, अलौकिक गणित, कर्म आदि दूरस्थ तथा सूक्ष्म विषयों का कथन होता है। इस अनुयोग में उपर्युक्त विषयों का ज्ञान तो किया जाता है; तथापि सर्वत्र बुद्धिपूर्वक परीक्षा करना सम्भव नहीं है।

आगम-गर्भित युक्तियों से परीक्षा (सत्यासत्य का निर्णय) करना अलग विषय है और बुद्धिगम्य विषयों के माध्यम से परीक्षा करना अलग बात है।

हमें यहाँ इस कृति में सर्वज्ञ-कथित सूक्ष्म विषय 'कर्म' के संबंध में ही जानने का प्रयास करना है। कर्मरूप विषय को कभी भी जीव न स्पर्शन इन्द्रिय से छू सके हैं; न रसनेन्द्रिय से चख सके हैं, न घ्राणेन्द्रिय से उसकी गंध सूँघ सके हैं, न आँखों से देख सके हैं और कर्मों का कानों से सुनना भी नहीं बना है; क्योंकि कोई भी कर्म, इन्द्रियगम्य नहीं है। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि हम उसे जान ही नहीं सकते।

कर्मविषयक ज्ञान सिर्फ आगम प्रमाण से ही हो सकता है। सर्वज्ञ भगवान का उपदेश आज भी हमारे पास शास्त्रों के माध्यम से सुरक्षित है। उन शास्त्रों को पढ़कर हम कर्मों को जान सकते हैं। इन कर्मों का कथन मात्र कुछ ही शास्त्रों में आता है, ऐसा भी नहीं है।

प्रथमानुयोगादि चारों अनुयोगों में कर्म का कथन नियम से आता ही रहता है। जैसे हरिवंश पुराण के प्रारंभ में लगभग १०० पंक्तियों में यही विषय है। करणानुयोग में कर्म के कथन की ही मुख्यता रहती है।

वैसे आचार्य वीरसेन ने कर्मों के कथन को द्रव्यानुयोग/अध्यात्म का कथन भी कहा है। अस्तु। हमें तो यहाँ कर्मों की बंध आदि दस अवस्थाओं पर चर्चा करना है।

कर्म की अवस्था को करण कहते हैं।

कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं - १. बंध, २. सत्त्व (सत्ता), ३. उदय, ४. उदीरणा, ५. उत्कर्षण, ६. अपकर्षण, ७. संक्रमण, ८. उपशांत, ९. निधत्ति, १०. निकाचित।

इन दसों का क्रम भी वैज्ञानिक है; क्योंकि १. यदि जीव को कर्म का बन्ध नहीं होगा तो जीव की देखने में आनेवाली विविध अवस्थाएँ नहीं होंगी और दुःखरूप संसार अवस्था का भी अभाव ही हो जायेगा।

२. यदि कर्म का बंध ही न हो तो उनका सत्त्व (सत्ता/अस्तित्व) कहाँ से होगा?

३. यदि कर्मों की सत्ता ही न हो तो उदय कहाँ से और कैसे होगा?

४. यदि कर्म का उदय ही न हो तो उदीरणा कैसे होगी? कर्मशास्त्र का यह सामान्य नियम है कि जिस कर्म का उदय रहता है, उस कर्म की ही उदीरणा हो सकती है।
५. जिस कर्म का बंध हुआ हो, उसमें ही स्थिति-अनुभाग बढ़नेरूप कार्य होगा अर्थात् उत्कर्षण होगा।
६. जिस कर्म का बंध हुआ हो, उसमें ही स्थिति-अनुभाग का घटनेरूप कार्य अर्थात् अपकर्षण होगा।
७. कर्म का पहले से ही जीव के साथ बंध हुआ हो तो ही कर्म में संक्रमण अर्थात् परिवर्तन/बदलनेरूप कार्य होगा।
८. कर्मबंध हुआ हो तो ही उसमें उदय-उदीरणा के न होनेरूप उपशांत करण का कार्य होगा।
९. यदि कर्म का बंध हुआ हो तो ही संक्रमण और उदीरणा न होनेरूप निधत्ति का कार्य होगा।
१०. यदि कर्म का बंध हुआ हो तो ही संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षणरूप कार्य न होनेरूप निकाचित कर्म बनेगा। संक्षेप में इतना ही हमें समझना है - कर्म की बंध अवस्था इन सब करणों का मूल है; अतः उसे सहज ही प्रथम क्रमांक मिला है। आचार्यों ने बंध करण का जो स्वरूप शास्त्र में लिखा है उसे क्रम से जानने का हम यहाँ प्रयास करते हैं। अब बंध करण आदि दस करणों को शास्त्र के आधार से एवं आगमगर्भित तर्क एवं युक्ति से समझाने का प्रयास करते हैं।

करण शब्द के अर्थ :-

१. करण शब्द का अर्थ गणित किया जाता है।
२. करण शब्द का प्रसिद्ध अर्थ इंद्रिय है।

३. समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में श्री अमृतचंद्राचार्य ने 43 नम्बर की करण नामक एक शक्ति भी बताई है।
४. जीव के परिणामों को भी करण कहते हैं। जैसे - अधःकरण आदि।
५. षट्कारक में करण नाम का एक कारक होता है। करण कारक साधन के अर्थ में होता है।
६. करण शब्द यहाँ अर्थात् इस दस करण के प्रकरण में कर्म प्रकृति की विशिष्ट अवस्था के लिए प्रयुक्त हुआ है।

प्राचीनकाल में हुए आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनके नाम षट्खंडागम, कषायपाहुड़, तत्त्वार्थसूत्र, गोम्मटसार, पंचसंग्रह आदि मूल ग्रन्थ तथा सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, धवला, जयधवला, महाधवला आदि टीका ग्रन्थ हैं। इनमें बंधकरण आदि का विस्तृत विवेचन है। वह विवेचन संस्कृत-प्राकृत भाषा में ही होने से सामान्य पाठकों को उनसे कुछ लाभ नहीं हो पाता।

इस कारण उन ग्रन्थों के ही विषय का हिन्दी भाषा में अनुवाद विद्वानों ने बड़े परिश्रम के साथ किया है; इसलिए हम उन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद को ही आवश्यक/योग्य स्थान पर पाठकों को लाभ हो, इस भावना से संक्षेप में देना चाहते हैं। पाठक उसका लाभ अवश्य लेंगे, ऐसी आशा है। अब प्रथमतः बंधकरणादि को नक्शों के द्वारा समझने का प्रयास करते हैं -

इस 'जीव जागा-कर्म भागा' कृति में हमने बंध, सत्त्व आदि करणों को निम्न ३ विभागों में विभाजित करके स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

वे विभाग इसप्रकार हैं -

१. आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर
२. भावदीपिका - चूलिका अधिकार
३. आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

मंगलाचरण

(वीर छन्द)

पंचप्रभु को वंदन अगणित जो अपने में लीन हुये।
पंच परावर्तन को क्षय कर पंचम गति जगदीश हुये ॥
तीन लोक के ज्ञाता-दृष्टा अरिहंतों को कर वंदन।
ध्रुव स्वभाव दर्शावन वाले सिद्ध प्रभु को करूँ नमन ॥१॥

प्रभु ने जिसका आश्रय लेकर लोकेश्वर पद पाया है।
उसी परमपद प्राप्ति हेतु अब मेरा चित हुलसाया है ॥
जिस ज्ञायक पर दृष्टि कर जिन चार घातिया किये शमन।
उस स्वभाव का अवलम्बन ले सब कर्मों का करूँ वमन ॥२॥

सर्वज्ञ कथित जिन-आगम में कर्मों का सूक्ष्म विवेचन है।
जीव जुदा है कर्म जुदा है, यह सिद्धान्त अनूपम है ॥
पृथक्-पृथक् हो बोध इन्हीं का अरु श्रद्धा जब दृढतम हो।
गुणस्थान आरोहण हो तब, कर्म निर्जरा सत्वर हो ॥३॥

वीरसेन अरु नेमीचंद्र आदि आचार्यों के अनुसार।
दस करणों का मर्म जानने का पुरुषार्थ जगा हितकार ॥
सत्ता बंध उदय उदीरणा उत्कर्षण अरु अपकर्षण।
सर्व कर्म में हो उपशांत निधत्त निकाचित संक्रमण ॥४॥

बंध आदि दस करण कर्म में, मैं उनसे निरपेक्ष सदा।
यह अपूर्व सत् संतों द्वारा प्रतिपादित मम हृदय लहा ॥
कर्म हुये बलवान कभी ना, मैं भूला निज बलवत्ता।
निज शक्ति पहिचान आज मैं पृथक् करूँ कर्मों सत्ता ॥५॥

- डॉ. संजीवकुमार गोधा

अधिकार पहला

नक्शों में दस करण

‘जीव जागा कर्म भागा’ पुस्तक लिखने के समय से एक विषय मुझे बारंबार सताता रहा है कि दस करणों को कक्षा में बोर्ड व नक्शों के माध्यम से समझाना कैसे बनेगा? अनेकों से पूछा भी; तथापि कुछ समाधानकारक उत्तर नहीं मिला। मैंने स्वयं ही अनेक प्रकार के नक्शे बनाने का प्रयास किया। अनेक लोगों को बताया/दिखाया।

मुझे नक्शों के द्वारा समझाने का परिणाम तीव्र होता रहा। एक बार दसों करणों के सामान्य नक्शे बनाये भी; तथापि वे सब नक्शे खो गये। एक बार मन में ऐसा भी विचार आया कि छोड़ दो इस नक्शे के विषय को।

क्या बताऊँ मैं अपने परिणामों को? जैसे-जैसे नक्शों को बनाने के विषय को छोड़ने का निर्णय करता गया, वैसे-वैसे वह विषय मेरे मन में और गहराई से बैठ गया। रात्रि में नींद टूटने के बाद भी नक्शा तो बनाना ही चाहिए – यही विषय ऊर्ध्व होता रहा।

फिर नक्शा बनाने का मानस बनाया। इसी क्रम में मुझे कारंजा (महा.) से मराठी में प्रकाशित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका मिली; जिसका संपादन विदुषी श्रीमती विजया अजितकुमारजी भिशीकर ने किया है। उसमें उदय-उदीरणा, उपशम, उत्कर्षण के कुछ नक्शे मिले। इनसे मुझे मार्गदर्शन मिला। उनका आधार लेकर मैंने दसों करणों के नक्शे बना तो दिये हैं; तथापि मेरे मन में यह तीव्र विकल्प था कि कोई साधर्मी इन नक्शों को इससे भी बढ़िया बनायें। मेरे इस विकल्प की पूर्ति के अनुसार इनको सर्वोत्तम बनाने का कार्य डॉ. संजीवजी गोधा द्वारा किया गया है।

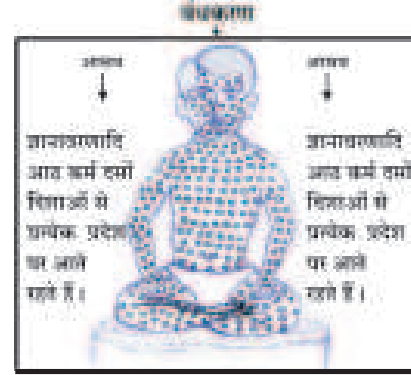
बंध और सत्त्व के चित्र श्री गणेश वायकोस, औरंगाबाद ने बनाये है।

दस करण का विषय पाठकों को कितना समझ में आया अथवा नहीं आया, इसे गौण करते हुए मैं सोचता हूँ तो मुझे हार्दिक समाधान यह है कि मुझे व्यक्तिगत बहुत-बहुत लाभ हुआ है। भविष्य में भी मैं यह आशा रखता हूँ कि यह विषय मुझे और अधिक स्पष्ट हो जावें।

– ब्र. यशपाल जैन

१ बंध

१. कर्म की विशिष्ट अवस्था को करण कहते हैं।
२. कर्म की १० अवस्थाओं में बंधकरण प्रथम अवस्था है।
३. संसारी जीव को कर्म का बंध अनादि से है।



● चित्र में आस्रवपूर्वक कर्म का बंध दिखाया है।

● मनुष्य के शरीर पर जो गोले दिखाये हैं, उन्हें कर्म-स्कन्ध समझना है।

४. संसारी जीव, प्रति समय अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं को बाँधता है।
५. जीव के मोह-राग-द्वेषरूप विकारी परिणामों के निमित्त से पुद्गलस्कन्ध की स्वयं परिणमित कार्मणवर्गणारूप विशिष्ट अवस्था को कर्म कहते हैं। कर्म के ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं।
६. जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों का निमित्त होनेपर कर्मों का आत्मप्रदेशों के साथ होनेवाले विशिष्ट (परस्पर एकक्षेत्र अवगाहरूप) संबंध को बंध कहते हैं।
७. मोही जीव को ही कर्म का सतत बंध होता है।
८. कर्मबंध के काल में भी आत्मा स्वरूप से अबंध /मुक्त स्वभावी ही है।
९. आठों कर्मों में वेदनीय कर्म को सबसे अधिक कर्म-परमाणु मिलते हैं।
१०. दर्शनमोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है।

११. आयुर्कर्म का बंध अप्रमत्तविरत नामक ७वें गुणस्थान तक ही होता है; आगे के गुणस्थानों में नहीं।
१२. अभेद विवक्षा में बंध योग्य प्रकृतियाँ १२० होती हैं।^१
१३. सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्प्रकृति नामक कर्म का बंध नहीं होता।
१४. अयोगकेवली को किसी भी कर्म का नवीन बंध नहीं होता।
१५. तिर्यच जीव को तीर्थकर प्रकृति का बंध नहीं होता।
१६. कर्म का बंध होते ही वह कर्म, तत्काल फल नहीं दे सकता।
आबाधाकाल बीतने के बाद ही कर्म, फल देता है।
१७. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय परिणामों को मोह कहते हैं।
१८. मात्र योग से केवल ईर्यापथास्रव होता है, जो एक समय का रहता है।
१९. कर्मबंध के चार भेद हैं -
१. प्रकृतिबंध २. प्रदेशबंध
३. स्थितिबंध ४. अनुभागबंध।
२०. प्रकृतिबंध आदि चारों प्रकार का बंध एकसाथ होता है।
२१. कर्म के स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं।
२२. कर्मरूप परिणमित पुद्गल परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबंध कहते हैं।
२३. आत्मा के साथ रहने की कर्म की काल-मर्यादा को स्थितिबंध कहते हैं।
२४. कर्म की हीनाधिक फलदान शक्ति को अनुभागबंध कहते हैं।
२५. योग के निमित्त से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होते हैं।

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-३७

२६. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय के भावों का निमित्त होने पर स्थितिबंध और अनुभागबंध होते हैं। इस समय प्रकृति, प्रदेश बंध तो होता ही है।
२७. बंधावस्था में सत्ता में स्थित कर्म, जीव को फल नहीं देता।
२८. अनुभाग बंध आदि उदय-काल में फल देने का काम करते हैं।
२९. विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं।
३०. हिंसादि पापों और इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति को अविरति कहते हैं।
३१. आत्मकल्याणक-कार्य में असावधानी प्रमाद है।
३२. क्रोधादि दुःखद विकारी परिणामों/भावों को कषाय कहते हैं।
३३. आत्मप्रदेशों की चंचलता को योग कहते हैं।
३४. प्रायोग्यलब्धि से नये बंधनेवाले सभी कर्मों की स्थिति अन्तः कोडाकोडी सागर के अंदर की बँधती है, इससे अधिक नहीं। और पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति भी घटकर अंतः कोडाकोडी सागरोपम-प्रमाण रह जाती है।

अघातिकर्मों के उदय से बाह्य सामग्री मिलती है, उसमें शरीरादिक तो जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाही होकर एक बंधानरूप होते हैं और धन, कुटुम्बादिक आत्मा से भिन्नरूप हैं इसलिये वे सब बन्ध के कारण नहीं हैं; क्योंकि परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं होता। उनमें आत्मा को ममत्वादिरूप मिथ्यात्वादिभाव होते हैं वही बन्ध का कारण जानना।

- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२७

बंध के अनेक भेद

बंध के प्रकृति बंध आदि चार भेद तो बहुत प्रसिद्ध हैं; किन्तु काल की सापेक्षता से इनके अनेक भेद मिलते हैं। इसकी चर्चा ई. सं. १९४७ में प्रकाशित धवला पुस्तक ८ के विषय-परिचय विभाग में की गई है। उसका अंश उपयोगी जानकर उसे यहाँ दिया जा रहा है -

१) “सान्तरबन्धी - एक समय बँधकर द्वितीय समय में जिनका बन्ध विश्रान्त हो जाता है; वे सान्तरबन्धी प्रकृतियाँ हैं; वे ३४ हैं -

असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक, नरकगति, एकेन्द्रियादि ४ जाति, समचतुरस्रसंस्थान को छोड़ शेष ५ संस्थान, वज्रर्षभनाराच-संहनन को छोड़ शेष ५ संहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशस्कीर्ति।

२) ध्रुवबन्ध - अभव्य जीवों के जो कर्म की ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का निरंतर बन्ध होता है, वह अनादि-अनन्त होने से ध्रुवबन्ध कहलाता है।

ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ ४७ हैं - ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, १६ कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस व कार्मण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और ५ अन्तराय।

३) निरन्तरबन्धी - जो प्रकृतियाँ जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक निरन्तर रूप से बँधती हैं, वे निरन्तरबन्धी हैं। वे ५४ हैं - ध्रुवबन्धी ४७, आयु ४, तीर्थकर, आहारकशरीर और आहारकशरीरांगोपांग।

४) सान्तर-निरन्तरबन्धी - जो जघन्य से एक समय और उत्कर्षतः एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के आगे भी बँधती रहती हैं; वे सान्तर-निरन्तरबन्धी प्रकृतियाँ हैं। वे ३२ हैं -

सातावेदनीय, पुरुषवेद, हास्य, रति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, समचतुरस्र-

संस्थान, औदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियिकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभनाराच-संहनन, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति, नीचगोत्र और उच्चगोत्र।

५) सादिबन्ध - विवक्षित प्रकृति के बन्ध का एक बार व्युच्छेद हो जाने पर जो उपशमश्रेणी से भ्रष्ट हुए जीव के पुनः उसका बन्ध प्रारंभ हो जाता है, वह सादि बन्ध है। जैसे - उपशान्तकषाय (ग्यारहवें गुणस्थान) से भ्रष्ट होकर सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें गुणस्थान) को प्राप्त हुए जीव के ५ प्रकार के ज्ञानावरण का बन्ध।

६) अनादिबन्ध - विवक्षित कर्म के बन्ध के व्युच्छित्तिस्थान को नहीं प्राप्त हुए जीव के जो उसका बन्ध होता है वह अनादि बन्ध कहा जाता है। जैसे - अपने बन्धव्युच्छित्तिस्थान रूप सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय से नीचे सर्वत्र ५ ज्ञानावरण का बन्ध।

७) अध्रुवबन्ध - भव्य जीवों के जो कर्मबन्ध होता है, वह विनश्वर होने से अध्रुवबन्ध है।

८) अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ - ध्रुवबन्धी प्रकृतियों से शेष ७३ प्रकृतियाँ, अध्रुवबन्धी हैं।

इनमें ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों प्रकार तथा शेष प्रकृतियों का सादि व अध्रुवबन्ध ही होता है।”

वहाँ सबसे पहले पूरे प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिए; क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है। -पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक-२१

बन्ध में अबन्ध की अनुभूति

बन्धन तभी तक बन्धन है - जब तक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बंधन है, तथापि आत्मा तो अबन्ध-स्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबन्ध स्वभावी आत्मा को भूलकर बंधन पर केन्द्रित हो रहा है।

वस्तुतः बंधन की अनुभूति ही बंधन है। वास्तव में 'मैं बँधा हूँ' इस विकल्प से यह जीव बँधा है। लौकिक बंधन अधिक मजबूत है, विकल्प का बंधन टूट जावे तथा अबंध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बंधन भी सहज टूट जाते हैं।

बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है - पुरुषार्थ की जागृति में बंधन कहाँ?

प्रश्न - बंधन के रहते हुए बंधन की अस्वीकृति और अबंध की स्वीकृति कैसे संभव है? बंधन है, उसे तो न माने और 'अबन्ध' नहीं है, उसे स्वीकारे, यह कैसे सम्भव है?

उत्तर - सम्भव है। स्वीकारना तो सम्भव है ही, द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो वस्तु भी ऐसी ही है। बंधन तो ऊपर (पर्याय में) ही है, अन्तर में तो पूरी वस्तु स्वभाव से अबन्ध ही पड़ी है। उसे तो किसी ने छुआ ही नहीं, वह तो किसी से बँधी ही नहीं।

स्वभाव में बंधन नहीं - इसे स्वीकार करने भर की देर है कि पर्याय के बंधन भी टूटने लगते हैं। स्वतंत्रता की प्रबलतम अनुभूति बंधन के काल में संभव है; क्योंकि अन्तर में स्वतंत्र तत्त्व विद्यमान है, पर्याय के बंधन कटने में भी वही समर्थ कारण है।

- तीर्थकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-५७, ५८

बंध हेतु उदाहरण

१. एक समय में अनन्त कर्म-परमाणु बंध रहे हैं - उनका विभाजन ३० समयों में (३० कोडाकोडीसागरोपम के प्रत्येक समय में) करके दिखाया है।^१



२. यह एक स्थान १ कोडाकोडी सागरोपम का माना गया है; ऐसे तीस स्थान है अर्थात् ज्ञानावरण की ३० कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बताई गयी है।

३. हालांकि बंध के प्रथम समय में यहाँ उदाहरण के तौर पर १५० परमाणुओं का बंध बताया गया है और अन्तिम समय में ५ परमाणुओं का बंध बताया गया है; परन्तु सत्य तो यह है कि प्रत्येक समय में अनन्त-अनन्त कर्म परमाणु बंधते हैं।

४. प्रथम समय में कर्मपरमाणु अधिक है और अनुभाग (फलदान शक्ति) कम रहता है, अन्तिम समय में कर्मपरमाणु कम और फलदान शक्ति अधिक रहती है। यह स्वाभाविक व्यवस्था है। अथवा फलदान-शक्ति हीनाधिक भी संभव है।

५. जैसे प्रदेशबंध समानरूप से प्रतिसमय घटता जाता है वैसे स्थितिबंध और अनुभागबंध समानरूप से प्रतिसमय बढ़ता जाता है अर्थात् पहले समय में कम फल, फिर थोड़ा अधिक फल, फिर अधिक, फिर अधिक उत्तरोत्तर अधिक से अधिक अथवा हीनाधिक भी संभव है।

६. एक समय में कर्मबंध में निमित्त होनेवाला विभाव भाव (मिथ्यात्वादि बंध का निमित्त) एक प्रकार का होता है और

१. यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म की अपेक्षा बात की गई है। कालेपन की हीनाधिकता से कर्म की स्थिति-अनुभाग की हीनाधिकता जानना चाहिये।

नैमित्तिक कार्य अनेक प्रकार के होते हैं।

७. पूर्व में बंधे हुये चारों प्रकार के बंध के साथ नवीन कर्म में भी चारों प्रकार का बंध हो रहा है।

● अधिक से अधिक ७० कोडाकोडीसागरोपम काल पहले बाँधा गया कर्म संसारी जीव के पास विद्यमान रह सकता है।

अनादिकाल का कर्म किसी भी जीव के पास सत्ता में नहीं रहता।

● सिद्धराशि के अनन्तवें भाग, अभव्यराशि से अनन्तगुणा समयप्रबद्ध कर्म को जीव प्रतिसमय बांधता है। समय-समय प्रति बांधता है, उसे समयप्रबद्ध कहते हैं। अभव्यराशि से अनन्तगुणा ऐसा जो सिद्धराशि का अनन्तवाँ भाग, उस प्रमाण परमाणुओं के समूहरूप जो वर्गणा तथा उतनी ही वर्गणाओं के समूहरूप जो समयप्रबद्ध, उसको समय-समय प्रति बांधता है। योग के वश विसदृश बंध होता है, कभी बहुत परमाणुओं का बंध होता है, कभी थोड़े परमाणुओं का बंध होता है। सामान्यपने पूर्वोक्त प्रमाण ही रहते हैं।^१

● समय-समय प्रति एक समयप्रबद्ध निर्जरित होता है, उदयरूप होता है। अथवा सातिशय क्रियासंयुक्त जो आत्मा उसके सम्यक्त्वादि की प्रकृतिरूप योग, उसके द्वारा निर्जरा के जो ग्यारह स्थान गुणस्थानाधिकार में कहे हैं, उनकी विवक्षा से एक समय में अनेक समयप्रबद्ध भी निर्जरित होते हैं।

● पुनश्च डेढ़ गुणहानि के प्रमाण से समयप्रबद्ध को गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, उतने कर्म-परमाणु प्रतिसमय सत्तारूप रहते हैं।^२

● गोम्मटसार कर्मकाण्ड (बड़ा) ग्रन्थ में समय प्रबद्ध बंध एवं उदय के लिये ६३०० कर्म परमाणुओं का दृष्टान्त दिया गया है। उसे वहीं से जानना चाहिये। ●

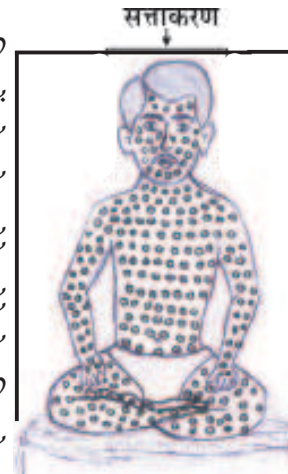
१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-४

२. वही, गाथा-५

२ सत्ता

१. कर्म की द्वितीय अवस्था का नाम सत्ता करण है।
२. कर्म का बंध होते ही कर्म की सत्ता (सत्त्व, अस्तित्व) बनती है, उसे ही कर्म का सत्त्व करण कहते हैं।
३. अनेक समयों में बंधे हुए कर्मों का विवक्षित काल तक जीव के प्रदेशों के साथ अस्तित्व होने का नाम सत्त्व है।

● चित्र में जो अनेक छोटे-छोटे गोले दिखाये गये हैं; वे कर्मों के समूह के हैं।
● वरुण पहिनाया है और बाल दिखाये गये हैं, वहाँ भी कर्मों का बंध एवं सत्ता है।



४. ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की १४८ कर्म-प्रकृतियाँ सत्त्व-योग्य हैं।
५. पुण्य कर्मरूप प्रकृतियों की संख्या ६८ है और पापप्रकृतियों की संख्या १०० है। यहाँ २० कर्म-प्रकृतियों की बढ़ोतरी इसलिए हुई है कि स्पर्शादि २० कर्म-प्रकृतियाँ पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं।
६. तीर्थकर कर्म-प्रकृति के सत्त्ववाले

जीव, संसार में नित्यमेव असंख्यात रहते हैं; नरकों में भी असंख्यात हैं और स्वर्गों में भी असंख्यात हैं।

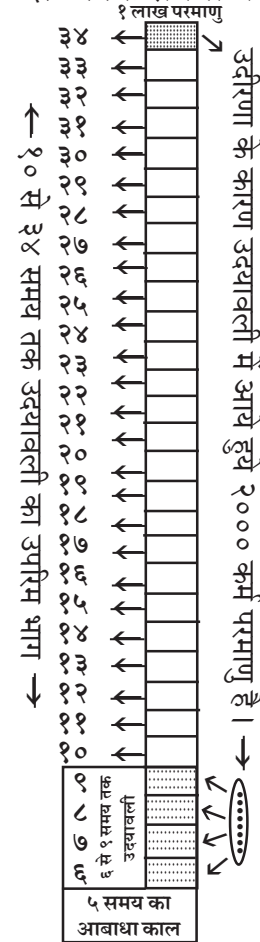
७. जिन जीवों के एक बार मिथ्यात्व कर्म का असत्त्व हो जाता है, उनके फिर से मिथ्यात्व का सत्त्व कभी नहीं हो सकता।
८. तीर्थकर कर्म प्रकृति की सत्ता तीसरे नरक पर्यंत ही होती है।
९. तीर्थकर प्रकृति की सत्ता ऊपर तो सौधर्मादि सभी स्वर्गों में है।
१०. सिद्धों को छोड़कर सब जीवों में कर्म की सत्ता पाई जाती है।
११. अरहंत परमात्मा के चार अघाति कर्मों की सत्ता रहती है।
१२. अरहंतों के भी असाता वेदनीय कर्म की सत्ता रह सकती है।
१३. कर्मबंध से फल-प्राप्ति के बीच की अवस्था, सत्ता कहलाती है।

१४. जीव के साथ सत्ता में स्थित कर्म, पदार्थों के संयोगों में अथवा सुख-दुःख देने में निमित्त नहीं होते। इस कारण सत्त्व में स्थित कर्म को मिट्टी के ढेले के समान कहा है।^१
१५. सत्त्व, बंध का कार्य है और उदय का कारण है।
१६. जैसी कर्म की सत्ता है, वैसा ही जीव को फल मिलने का नियम नहीं है; क्योंकि कर्म का उदयकाल आने के पहले सत्त्वस्थित कर्म में परिवर्तन होने की संभावना रहती है।
१७. बंध करण के जैसे प्रकृतिबंध आदि चार भेद हैं, जैसे ही सत्त्व करण के भी १. प्रकृतिसत्त्व, २. प्रदेशसत्त्व, ३. स्थितिसत्त्व, ४. अनुभागसत्त्व - ये चार भेद हैं।
१८. तिर्यचों में तीर्थकर कर्म प्रकृति की सत्ता नहीं होती।
१९. एक जीव के भुज्यमान और बद्धयमान दो आयु कर्म की सत्ता रह सकती है।
२०. नारकियों में देवायु कर्म का सत्त्व नहीं रहता।
२१. देवों में नरकायु कर्म का सत्त्व नहीं रहता।
२२. यद्यपि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनंतानंत कर्म-परमाणु विद्यमान हैं; तथापि आत्मा उसी समय स्वभाव से ही उन कर्म-परमाणुओं से अस्पर्शित है; क्योंकि आत्मा में स्पर्श गुण नहीं है।
२३. पूर्व-संचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना, सत्ता है।
२४. शुभपरिणाम का निमित्त होने पर सत्ता में स्थित साता-वेदनीय कर्म आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि (उत्कर्षण) हो जाती है।
२५. अशुभपरिणाम का निमित्त होने पर सत्तास्थित सातावेदनीय आदि समस्त पुण्य कर्म प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में हानि (अपकर्षण) हो जाती है। ●

१. समयसार, गाथा-१६९

३-४. उदय-उदीरणा

१. कर्म का आबाधाकाल पूर्ण होते ही कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं।
२. अनेक समयों में बंधे हुये कर्म, एक समय में उदय में आते हैं।



३. सुनिश्चित क्रम से कर्म, जीव को फल देते हैं; उसे उदय कहते हैं। तत्पश्चात् कर्म कार्मणवर्गणा आदि रूप परिणामते हैं।
४. उदयावली में स्थित कर्म के निषेकों की स्थिति, क्रम से पूर्ण होती रहती है और निषेक फल देते रहते हैं, उसे उदय कहते हैं।
५. एक आवली काल पर्यंत कर्म-निषेकों का लगातार उदय आता रहता है, उसे उदयावली कहते हैं। असंख्यात समयों की १ आवली होती है।
६. नक्षत्रों में छठे समय से लेकर ९वें समय पर्यंत के एक आवली काल को उदयावली कहा है।
७. कर्म का उदय यथाकाल होता है और कर्म की उदीरणा अयथाकाल।

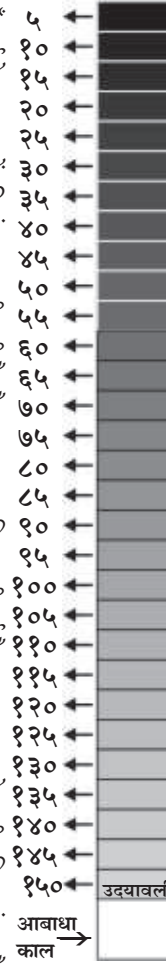
४. उदीरणा

१. माना कि ३४वें समय में सत्त्वस्थित १ लाख कर्म-परमाणु हैं। उनमें से २००० कर्म-परमाणु उदयावली में आकर मिलते हैं और अपना यथायोग्य फल देते हैं। अर्थात् कर्मों की स्थिति पूर्ण होने के पहले ही वे उदय में आ रहे हैं। इस प्रक्रिया को उदीरणा कहते हैं।
२. जिन कर्म-परमाणुओं/निषेकों की उदीरणा हो गयी है; वे उदयावली में आकर मिलते हैं, उदयावली के बाहर नहीं।
३. उदाहरण में उदीरणा के कारण दीर्घकाल के बाद उदय आने-योग्य २००० कर्मपरमाणु, जीव के विशेष परिणामों से उदयावली (नक्षत्रों के ६ से ९वें समय) में आकर मिल गए हैं; इसे ही उदीरणा कहते हैं।
४. अपक्व-पाचन को (अकालपाक को) उदीरणा कहते हैं।

५. उदीरणा के प्रभाव से कर्म-निर्जरा में विशेषता आ जाती है।
६. उदीरणा, उदीयमान कर्मों की ही होती है अर्थात् उदीरणा, उदय के अनुसार ही होती है। उदय पुण्य कर्म का हो तो उदीरणा भी पुण्य की होगी।
७. उदीरणाकरण के ४ भेद हैं - १. प्रकृति उदीरणा २. स्थिति उदीरणा ३. अनुभाग उदीरणा और ४. प्रदेश उदीरणा।
८. उदय के प्रकरण में जो उदय-व्युच्छिति का कथन है, उसका यह भी प्रयोजन है कि जितनी कर्म-प्रकृतियों की जहाँ उदय-व्युच्छिति होती है उससे आगे के गुणस्थानों में उन कर्म-प्रकृतियों के उदयाभाव की तरह उदीरणा का अभाव भी हो जाता है।
९. सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्म-प्रकृति का उदय होता है, वहीं उस कर्म-प्रकृति की उदीरणा हो सकती है, अन्यत्र नहीं।
१०. साता, असाता व मनुष्यायु; इन तीन कर्म का उदय तो चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक होता है; परन्तु इनकी उदीरणा छठवें गुणस्थान तक ही होती है।
११. देवों के उत्पत्तिके समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक साता-वेदनीय, हास्य एवं रति कर्म की नियम से उदीरणा होती है, आगे अनियम से होती है। इससे ज्ञात होता है कि देव, उत्पत्तिकाल के प्रारंभिक अन्तर्मुहूर्त में नियम से प्रसन्न व सुखी रहते हैं। इनके सातावेदनीय, हास्य व रति कर्म का उदीरणाकाल, उत्कृष्ट से छह मास है।
१२. नारकियों में उत्पत्तिकाल से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक अरति, शोक व असाता कर्म की नियम से उदीरणा होती है।
१३. संसारी जीव के उदयकृत परिणामों की अपेक्षा उदीरणा से जो परिणाम होते हैं, उनमें अधिक तीव्रता होती है।
१४. मरण समय के अन्तिम आवली काल में अपनी-अपनी आयु कर्म का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं।
१५. क्षीणकषाय गुणस्थान के काल में दो समयाधिक आवली शेष रहने तक निद्रा-प्रचला कर्म का उदय और उदीरणा दोनों होते हैं।

उदय हेतु उदाहरण

यहाँ कर्म के परमाणुओं की संख्या घटती गयी है और फलदान-शक्ति बढ़ती गई है अथवा यथा-योग्य हीनाधिक संभव है।



१. एक समय में अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओं का उदय आता है। उनका विभाजन ३० समयों में (आबाधाकाल के ३००० वर्ष कम ३० कोडाकोडी सागरोपम के प्रत्येक समय में) करके दिखाया है।
२. यह एक स्थान १ कोडाकोडी सागरोपम का माना गया है; ऐसे तीस स्थान है अर्थात् ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति, ३० कोडाकोडी सागरोपम; इस उदाहरण में बताई गई है।
३. कर्मोदय के प्रथम समय में १५० परमाणुओं का उदय माना गया है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक समय में अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं का उदय आता है।
४. अन्तिम समय में ५ कर्म-परमाणुओं का उदय उदाहरण रूप से बताया है।
५. प्रथम समय में कर्मपरमाणु अधिक है और उनकी अनुभाग (फलदान) शक्ति कम रहती है।^१
६. पूर्वबद्ध विशिष्ट कर्म के अन्तिम समय में कर्मपरमाणु कम और उनकी अनुभाग (फल देने की) शक्ति अधिक रहती है।^२
७. जिस समय ज्ञानावरण कर्म का उदय आ रहा है, उसी समय मोह परिणाम विद्यमान होने से ज्ञानावरण आदि कर्मों का नूतन बंध भी होता ही है।

१. श्री टोडरमलजी कृत लब्धिसार टीका, भूमिका - पृष्ठ-७४, प्रकाशक दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई तथा लब्धिसार भूमिका, पृष्ठ-१४, प्रकाशक वीतरागवाणी प्रकाशन मुम्बई।

२. वही

● नोट :- नक्शे में कालेपन की हीनाधिकता स्थिति-अनुभाग की हीनाधिकता दिखाती है।

८. फल देकर जानेवाले ज्ञानावरण आदि कर्म एवं नए बँधने वाले ज्ञानावरण आदि कर्म में कुछ टकराव/परस्पर बाधा नहीं होती। सर्व कार्य सहज होते रहते हैं।

९. ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमानुसार व्यक्त ज्ञान में हीनाधिकता होती है; यह कथन निमित्त की मुख्यता से किया गया है।

वास्तविक स्वरूप तो यह है कि जीव वर्तमान काल में अपने तत्समय की योग्यतारूप सहज पुरुषार्थ से जैसा ज्ञान व्यक्त करता है; तदनुसार ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम रहता है।

१०. वास्तविकरूप से देखा जाय तो प्रत्येक कर्म का उदय एक समय का ही रहता है; तथापि उदयरूप कार्य लगातार रहने से अनादि से ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय है; ऐसा कथन होता है।

११. एक अंतर्मुहूर्त पहले ही बँधा हुआ कर्म भी एक आवली मात्र आबाधाकाल पूर्ण होने पर किन्हीं जीवों को उदय में आ सकता है।

१२. जहाँ हम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म के उदय को बता रहे हैं, वहीं अन्य सभी कर्मों का उदय भी रहता ही है।

१३. एक समय में एक कर्म अथवा अनेक कर्मों के उदय से भिन्न-भिन्न कार्य अपने-अपने उपादान के अनुसार सतत होते रहते हैं; उनका परस्पर विरोध नहीं है - यह सब सहज है।

आबाधा काल

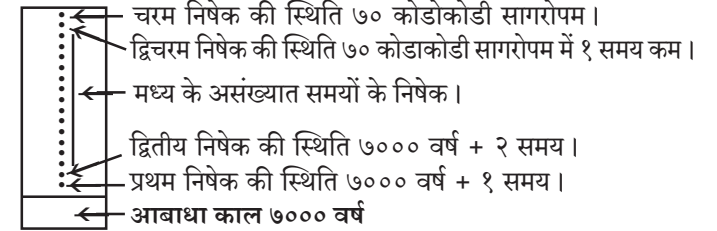
अब यहाँ कर्मों के आबाधा काल को बताते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है -

कम्मसरूवेणागय दव्वं ण य एदि उदयरूवेण।

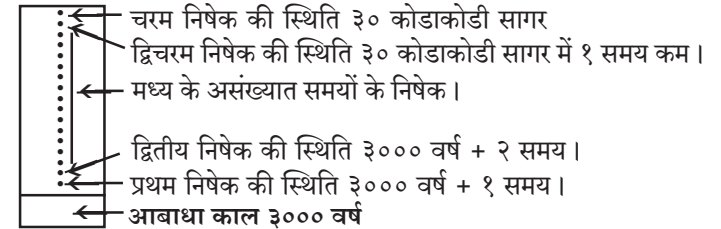
रूवेणुदीरणस्स य आबाहा जाव ताव हवे ॥^१

१. “कर्मस्वरूप से परिणत हुआ कार्मण द्रव्य, जब तक उदय या उदीरणरूप नहीं होता, तब तक का काल आबाधा काल कहलाता है।”
२. एक कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबंध का १०० वर्ष प्रमाण आबाधा काल होता है, यह नियम है।^२
३. इसीप्रकार अन्य कर्मों का भी आबाधा काल समझना चाहिए।

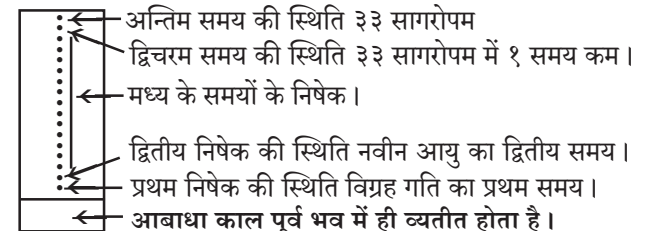
१. संज्ञी जीव के मिथ्यात्व कर्म की स्थिति ७० कोडाकोड़ी सागरोपम



२. संज्ञी जीव के ज्ञानावरण कर्म की स्थिति ३० कोडाकोड़ी सागरोपम

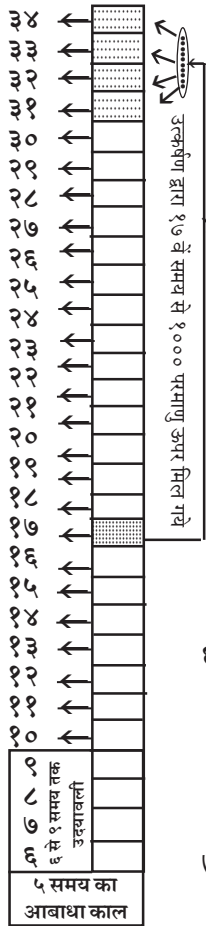


३. आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम



५ उत्कर्षण

- सत्तास्थित कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना उत्कर्षण है।
- नये कर्म-बंध के समय पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति में से कुछ कर्म परमाणुओं की स्थिति-अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है। इसे उदाहरण से देखते हैं-



- यथा १७वें समय में दस हजार (१०,०००) कर्म-परमाणु हैं। जीव के विशेष परिणामों के कारण उन दस हजार में से जो एक हजार कर्म परमाणु, अधिक स्थिति एवं अधिक अनुभाग वाले नवीन कर्म बंध में जाकर मिलते हैं; उसे उत्कर्षण कहते हैं।
- पूर्वबद्ध कर्म में जो निम्न/प्रथमादि समयवर्ती कर्मों के निषेक हैं, उनमें कर्म-परमाणुओं की संख्या अधिक है और फल देने की अनुभाग शक्ति कम रहती है अथवा योग्यतानुसार हीनाधिकता भी हो सकती है।
- ऊपर-ऊपर अर्थात् अधिक-अधिक स्थितिवाले कर्मों के निषेकों में कर्म-परमाणुओं की संख्या कम रहती है और फल देने की शक्ति अधिक रहती है अथवा योग्यतानुसार हीनाधिकता भी हो सकती है।
- इसतरह कम स्थिति-अनुभाग सहित कर्म, उपरिम नये बंधनेवाले तथा पूर्वबद्ध अधिक स्थिति तथा अधिक अनुभागवाले निषेकों में जाकर मिलते हैं; यही उत्कर्षण है।
- इसकारण उनकी स्थिति एवं अनुभाग स्वयं ही बढ़ जाते हैं - इस कार्य को उत्कर्षण कहते हैं।
- यह कार्य घाति-अघाति दोनों कर्मों में जीव के परिणामों के निमित्त से हमेशा होता रहता है।

- जिन कर्म परमाणुओं की स्थिति कम है, उनकी स्थिति तत्काल बँधनेवाले कर्म के संबंध से बढ़ना उत्कर्षण है।^१
- बंधावस्था में स्थित कर्मों में पूर्व की स्थिति या अनुभाग में वृद्धि, उत्कर्षण नाम को प्राप्त होती है।
- उदयावली में स्थित कर्म के प्रदेशों का उत्कर्षण नहीं बनता।
- उदयावली के बाहर कर्म की स्थितियों का उत्कर्षण यथायोग्य संभव है।
- उत्कर्षण बंध के समय में तत्संबंधी कर्म प्रकृति के परमाणुओं का ही होता है। जैसे - यदि जीव साता वेदनीय कर्म का बंध कर रहा है तो उसमें सत्ता में स्थित साता वेदनीय के परमाणुओं का ही उत्कर्षण होगा, न कि असाता वेदनीय के परमाणुओं का।
- तेरहवें गुणस्थान पर्यंत उत्कर्षण संभव है, आगे नहीं।^२
- सभी कर्म प्रकृतियों में उत्कर्षण करण होता है।
- उत्कर्षित कर्म की स्थिति, बध्यमान स्थिति से तुल्य या हीन होती है; अधिक कदापि नहीं।
- आयु कर्म में बध्यमान आयु का उत्कर्षण हो सकता है; पर भुज्यमान आयु कर्म का नहीं। ●

प्रश्न : मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से ही होता है या कोई और दूसरा उपाय भी है?

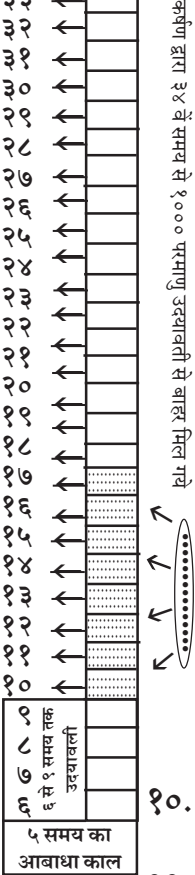
उत्तर : स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार, गाथा ८६ में बताया है कि स्वलक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना, उपायान्तर अर्थात् दूसरा उपाय है, इससे दर्शनमोह का क्षय होता है।

- ज्ञानगोष्ठी, पृष्ठ-१२

६ अपकर्षण

१. कर्मप्रदेशों की स्थितियों में काल सापेक्ष हीनता का नाम अपकर्षण है।
२. अपकर्षण के द्वारा कर्मों की स्थिति और अनुभाग क्षीण हो जाते हैं।
३. स्थिति-अनुभाग के घटने का नाम अपकर्षण जानना।

४. जीव के विशेष परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों (सत्त्वकरण में स्थित कर्मों) की स्थिति एवं अनुभाग घटते हैं, उसे



अपकर्षण कहते हैं।

५. यथा ३४वें समय में दस हजार (१०,०००) कर्म-परमाणु हैं। जीव के विशेष परिणामों के कारण उन दस हजार परमाणुओं में से एक हजार कर्म परमाणु १७वें समय से लेकर १०वें समय पर्यंत (उदयावली के बाद) के सभी समयों के कर्म-परमाणुओं में डाले जाते हैं, उसे अपकर्षण कहते हैं।

६. अपकर्षित कर्म-द्रव्य उदयावली के बाहर अर्थात् उपरिम भाग में ही डाला जाता है।

७. यदि अपकर्षित कर्मद्रव्य उदयावली में डाला जायेगा तो उसे उदीरणा नाम प्राप्त होता है।

८. अपकर्षण के समय उस कर्म के नवीन बंध की जरूरत नहीं होती।

९. विवक्षित निषेक का अपकर्षण होने पर वहाँ के संपूर्ण कर्म-निषेक समाप्त नहीं होते; किन्तु उस निषेक के कुछ परमाणु ही अपकर्षित होकर नीचे की स्थितियों में दिये जाते हैं।

१०. प्रति समय में जितना कर्म (द्रव्य) नीचे के समय में निक्षिप्त किया जाता है, उसे फाली कहते हैं।

११. आदि स्पर्धक का अपकर्षण नहीं होता।

१२. उत्कर्षण, अपकर्षण से सत्ता में विद्यमान कर्म की प्रकृति एवं प्रदेशों में कोई बदलाव नहीं होता; किन्तु निषेकों में स्थित कर्म परमाणुओं का स्थानान्तरण होने से हीनाधिक स्थिति-अनुभागवाले होते हैं।
१३. अपकर्षण से अपवर्तन भिन्न हैं; इसका खुलासा आगे देखें।

अपकर्षण-अपवर्तन में भेद

अपकर्षण और अपवर्तन दोनों एक नहीं, भिन्न-भिन्न ही हैं।

आयुर्कर्म का अपकर्षण होने पर भी आयु की स्थिति कम नहीं होती; क्योंकि जिस उपरितन स्थिति में से आयु कर्म के निषेक अधस्तन स्थिति में आते हैं उस उपरितन स्थिति में से आयु कर्म के सर्व निषेक नीचे नहीं आते कुछ निषेक ही अधस्तन स्थिति में आते हैं। इस कारण आयु कर्म का नाश नहीं होता अर्थात् मरण भी नहीं होता।

अपवर्तन के काल में आयुर्कर्म के सर्व निषेक उपरितन स्थिति में से अधस्तन स्थिति में आते हैं और आयुर्कर्म का नाश ही होता है। इसकारण मरण होता है।

अपवर्तन के संबंध में गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ६४३ की टीका का कथन इसप्रकार है -

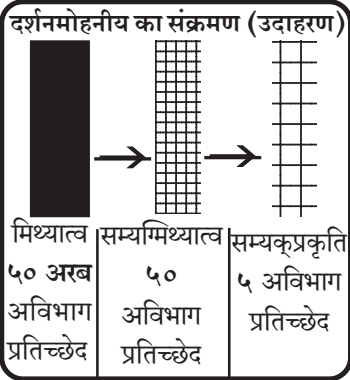
“आयु के बन्ध को करते जीव, तिनिकै परिणामनि के वशतै बध्यमान आयु का अपवर्तन भी होता है। अपवर्तन नाम घटने का है, सो याकौ अपवर्तनघात कहिए, जातैं उदय आई (भुज्यमान) आयुकै अपवर्तन का नाम कदलीघात है। (अर्थात् भुज्यमान आयु के घटने का नाम कदलीघात और बध्यमान आयु के घटने का नाम अपवर्तनघात है।)”

पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी ने कहा है - मेरुगिरि आदि अकृत्रिम स्कन्धों में अनन्त पुद्गलपरमाणु अनादि से एकबन्धनरूप हैं, फिर उनमें से कितने ही परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं, इस प्रकार मिलना बिछुड़ना होता रहता है। उसी प्रकार इस संसार में एक जीवद्रव्य और अनन्त कर्मरूप पुद्गलपरमाणु उनका अनादि से एकबन्धनरूप है, फिर उनमें कितने ही कर्मपरमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं। - इसप्रकार मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।

- मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२२

७. संक्रमण

१. विवक्षित कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का सजातीय अन्य कर्मप्रकृतिरूप परिणमन होने को संक्रमण कहते हैं। जैसे - विशुद्ध परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध असाता वेदनीय कर्म प्रकृति के परमाणुओं का साता वेदनीयरूप तथा संक्लेश परिणाम से पूर्वबद्ध साता वेदनीय कर्म के परमाणुओं का असाता वेदनीयरूप परिणमन होना।



२. एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप बदल जाना ही संक्रमण है। ३. मूल कर्मप्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। ४. चारों आयुओं में आपस में संक्रमण नहीं होता। ५. मोहनीय कर्म का उत्तरभेद-दर्शनमोहनीय का चारित्र-मोहनीय में संक्रमण नहीं होता (संक्रमण नहीं होने का कारण इनकी कार्मण-वर्गणाएँ भिन्न-भिन्न है।)

६. दर्शनमोहनीय कर्म के भेदों में परस्पर संक्रमण होता है।
७. चारित्र-मोहनीय कर्म के भेदों में भी परस्पर संक्रमण होता है।
८. मिथ्यात्व कर्म का संक्रमण, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म में होता है। सम्यग्मिथ्यात्व कर्म, सम्यक्प्रकृति में संक्रमित/ परिवर्तित होता है और सम्यक्प्रकृति कर्म, स्वमुख से उदय में आकर दर्शनमोहनीय कर्म, पूर्णरूप से नष्ट होता है।
९. चारित्रमोहनीय कर्म की भी अनन्तानुबंधी चौकड़ी, अन्य १२ कषायों और नौ नोकषायों में संक्रमित (विसंयोजित) होती है। विसंयोजन होना एक प्रकार से संक्रमण ही है।
१०. संज्वलन क्रोध, मान में बदलता है। मान, माया में; माया, स्थूल लोभरूप में संक्रमित होती है। अन्त में सूक्ष्म लोभ कर्म स्वमुख (उदय) से नष्ट हो जाता है।
११. मतिज्ञानावरणादि कर्म, केवलज्ञानावरण में संक्रमित हो जाते हैं।
१२. केवलज्ञानावरण कर्म, मतिज्ञानावरणादि में बदल जाता है।
१३. कर्मों का यह संक्रमण ४ प्रकार का है। यथा - १. प्रकृति संक्रमण २. प्रदेश संक्रमण ३. अनुभाग संक्रमण और ४. स्थिति संक्रमण। ●

८. उपशान्त^१

(अप्रशस्त उपशमनाकरण)

नये बँधने
वाले कर्मों
की सत्ता
→

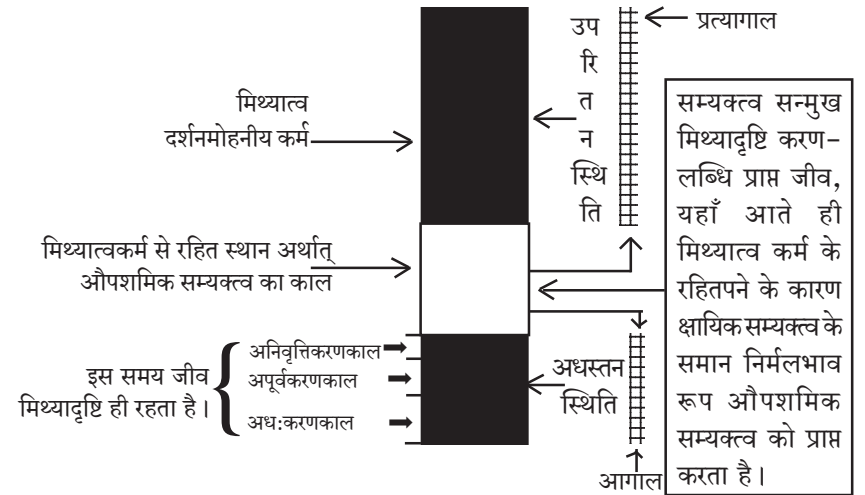
→
पूर्वबद्ध
सत्तास्थित
कर्म

उपशांतकरण एवं उपशम इन दोनों में जो अन्तर/भेद है, वह स्पष्ट समझ में आना चाहिए; इसलिए हम यहाँ दोनों (उपशान्त व उपशम) को तुलना के साथ विशदरूप से दे रहे हैं।

१. नया बँधनेवाला कर्म कुछ काल तक बद्ध अवस्था में ही रहेगा; इसकी उदीरणा नहीं होगी। इस उदीरणा के अभावरूप सत्तास्थित कर्म की अवस्था को उपशान्त करण कहते हैं।

२. सत्तास्थित कर्मद्रव्य की जब तक उदीरणा नहीं होती तब तक की कर्म की अवस्था को उपशान्त करण कहते हैं।

उपशम



१. जयधवला पुस्तक-१३, गाथा-१२३/७६, पृष्ठ-२३१ (अप्रशस्त उपशमनाकरण को और उपशांत को एक ही बताया है।)

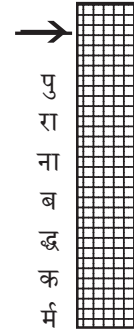
उपशान्त

१. जो कर्म उदय में नहीं आ सके, सत्ता में रहे, वह उपशांत करण कहलाता है।
२. सत्ताविषै तिष्ठता अपनी-अपनी स्थिति को धरै हैं ज्ञानावरणादिक कर्म का द्रव्य जा विषै, जाकी जावत् काल उदीरणा न होय तावत् काल उपशांत करण कहिए।
३. उपशांत करण (अप्रशस्त उपशम) आठों कर्मों में होता है।
४. कर्म की दस अवस्थाओं में उपशांत करण है।
५. धर्म (वीतरागता) प्रगट करने के लिए उपशांतकरण कुछ उपयोगी नहीं है।
६. उपशांत करण भव्य-अभव्य दोनों जीवों के होता ही है।
७. उपशांत करण अनादि से है; क्योंकि प्रत्येक भव्य-अभव्य जीव के कर्म में उपशांत करण होता ही है।
८. कर्म में उपशांत करण यह अवस्था कर्म की अपनी उपादानगत पात्रता से होती है।

उपशम

१. आत्मा के विशेष परिणामों के निमित्त से एवं कर्म की निजशक्ति के कारणवश कर्म का प्रगट न होना, उपशम है। जैसे - कतक आदि द्रव्य के संबंध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है।
२. परिणामों की विशुद्धता के निमित्त से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रगट न होना, यह कर्म का उपशम है।
३. अन्तरकरणरूप उपशम-दशा (क्रिया) मात्र दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म में होती है; अन्य किसी भी कर्म में नहीं।
४. कर्मों की दस अवस्थाओं में उपशम करण नहीं है।
५. उपशम निमित्तक औपशमिक भाव, स्वयं धर्मरूप ही है।
६. औपशमिक भाव मात्र भव्य जीवों को ही होता है।
७. उपशम (कर्म की अवस्था) सादि है; क्योंकि किसी भी जीव को धर्म प्रगट होगा तो उसे दर्शनमोहनीय कर्म के उपशमपूर्वक ही होगा।
८. मोहनीय कर्म में उपशम, अधःकरण आदि धर्मसन्मुख परिणामों के निमित्त से अथवा साक्षात् वृद्धिगत धर्म परिणामों से होता है।

९. निधत्ति



निधत्तिकर्म
अलग से

१. सत्ता में स्थित जिस कर्म का संक्रमण व उदीरणा नहीं होते, उसे निधत्ति कहते हैं।
२. निधत्ति करण आठों कर्मों में होता है।
३. निधत्ति कर्म में उत्कर्षण-अपकर्षण दोनों हो सकते हैं।
४. उदय में आकर फल देगा ही, यह निधत्ति की विशेषता है।
५. निधत्ति कर्म-पुण्य-पाप दोनों रूप होता है।
६. फल देने की मुख्यता है; इसलिए इस निधत्ति को दृढ़तर कर्म कहते हैं।
७. संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य कर्म-प्रकृतियों को निधत्ति कहते हैं।
८. कर्म का संक्रमण नहीं होता, इसका अर्थ यह है कि जब जैसा पुण्य अथवा पाप कर्म बँधा है; वह उसीरूप में अर्थात् पाप, पापरूप में ही रहेगा और वैसा ही उदय में आयेगा तथा फल भी वैसा ही देगा। पाप, पुण्यरूप अथवा पुण्य, पापरूप संक्रमित नहीं होता।
९. निधत्तिरूप कर्म की उदीरणा नहीं होती अर्थात् यह अपने सुनिश्चित समय के पहले उदय में आकर फल नहीं देता।
१०. आठवें गुणस्थान के पहले का निधत्ति कर्म, फल दिए बिना नहीं रहेगा; यह नियम है।
११. निधत्तिरूप कर्म में उत्कर्षण होता है; इसका अर्थ जो जिस फलदानरूप शक्ति से सहित अथवा जिस समय में फल देना है, उस समय की अवधि/काल मर्यादा बढ़ सकती है; अनुभाग भी बढ़ सकता है। तथापि फल तो जिस स्वभावरूप से बँध गया है; उसी स्वभावरूप से देगा। स्थिति-अनुभाग में बदल हो सकता है।
१२. निधत्तिरूप कर्म दृढ़तर कर्म कहे जाते हैं। जैसे - सती सीता का

वर्तमानकालीन जीवन पवित्रता में आदर्शरूप होने पर भी उनको पूर्वजन्म के निधत्तिरूप पापकर्म के कारण ही वनवास का प्रसंग, अग्निपरीक्षा, गर्भावस्था में वनवास इत्यादि पापमय फल मिलता रहा।

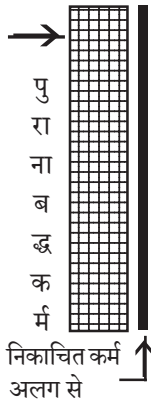
१३. यदि पुण्यमय निधत्ति कर्म नहीं होता तो शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ जैसे जीवों को कामदेवत्व, चक्रवर्तित्व जैसे सर्वोत्तम पुण्य कर्म के अनेक पदों की प्राप्ति एक ही साथ कैसे हो जाती?
१४. यह बात तर्क से भी सिद्ध ही है कि नियोग जन्य पदों को यह जीव नहीं चाहते हुये भी भोगने के पूर्व नहीं छोड़ सकता।
१५. निधत्तिरूप कर्म जीव को फल देता ही है, यह कथन सापेक्ष है।
१६. यदि जीव नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करता है तो इस नौवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही कर्म का निधत्तिपना नियम से नष्ट होता है।^१ इस विषय को मूल से अवश्य देखना चाहिए, जिससे जीव को कर्म का यथार्थ ज्ञान हो जावे।
- निधत्ति को ही अन्य शब्दों में फिर से स्पष्ट करते हैं -
 “संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य प्रकृतियों को निधत्ति कहते हैं” - यह मूल परिभाषा है।
- परिभाषाकार आचार्यों ने निधत्ति कर्म, किस-किस करण के लिए अयोग्य है, इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।
- हम यहाँ इस परिभाषा के आधार से ही यह निधत्ति कर्म किस-किस कार्य के लिए योग्य है, यह जानने का प्रयास करते हैं; जिससे हमें आचार्यों के कथन का भाव स्पष्ट समझ में आ सकें।
१. यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि इस प्रकृति का बंध तो हुआ ही है। यदि बंध ही नहीं होता तो इस कर्म की सत्ता कैसे बनती? अर्थात् बंधरूप कार्य हुआ ही है; इसप्रकार बंधकरण सिद्ध हुआ।

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-४५०

२. यदि कर्म के बंध का स्वीकार हुआ है तो बंध के कार्यस्वरूप इस निधत्तिरूप कर्म की सत्ता भी सहज ही सिद्ध हो जाती है।
३. तीसरा करण उदय भी सहज ही सिद्ध हैं। उदय तो होगा ही; क्योंकि निधत्ति कर्म का उदय नियम से होता ही है; इस कारण से ही इस कर्म को फल देने में दृढ़तर कहा है।
४. उत्कर्षण एवं अपकर्षण - ये दोनों करण निधत्तिरूप कर्म में होते हैं; क्योंकि परिभाषा में इनका निषेध नहीं किया है। उत्कर्षण और अपकर्षण - ये दोनों करण निकाचित में नहीं होते।
५. उदीरणा करण का निषेध तो निधत्ति की परिभाषा में ही किया है; इसलिए निधत्ति कर्म की उदीरणा नहीं होती।
६. संक्रमण करण का प्रतिषेध परिभाषा में ही किया है; अतः निधत्तिरूप कर्म में संक्रमण (बदल) भी नहीं होगा।
७. उपशान्त करण होगा; क्योंकि निधत्तिरूप कर्म का बंध होने के बाद यह निधत्तिरूप कर्म, कुछ काल पर्यंत जीव के साथ रहेगा ही; इसलिए निधत्तिकर्म में उपशान्त करण होता है।

प्रश्न :- किसी जीव का निधत्तिकर्म, फल दिये बिना भी नष्ट हो सकता है क्या?

उत्तर :- हाँ, विशिष्ट जीवों का निधत्तिरूप कर्म फल दिये बिना भी नष्ट होता है। जैसे - जो जीव अपने विशेष पुरुषार्थ से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करते हैं, उनके निधत्ति कर्मत्व का नाश होता है अर्थात् उनका निधत्तिपना नष्ट होकर वे निधत्तिरूप कर्म, सामान्यकर्मरूप से परिणामित हो जाते हैं। (निकाचित करण में भी निधत्ति करण का और खुलासा किया जायेगा।)



१०. निकाचित

१. संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण के लिए अयोग्य प्रकृतियों को निकाचित करण कहते हैं।
२. संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण - ये चारों करण निकाचित कर्म में नहीं होते।
३. निकाचित कर्म में फल देने की मुख्यता रहती है।
४. निकाचित कर्म का उदय द्वारा फल मिलता ही है।
५. निकाचित कर्म को दृढ़तम कर्म कहते हैं; क्योंकि इस कर्म में चार प्रकार की योग्यता नहीं है और ये कर्म उदय में आयेंगे और फल देंगे ही देंगे।

६. निकाचित कर्म पुण्य-पाप दोनोंरूप होता है।

अब निकाचित कर्म को अन्य शब्दों में भी स्पष्ट करते हैं -

१. यह निकाचित कर्म, पापरूप से बँध गया अथवा पुण्यरूप से बँध गया, वह कर्म वैसा का वैसा ही रहेगा; उसमें परिवर्तन की बिल्कुल सम्भावना नहीं है। जिस प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप से कर्म बद्ध हो गया है; वह कर्म उसी रूप (अवस्था) में रहते हुए सुनिश्चित समय पर पूर्णरूप से फल देगा।

२. स्थिति-अनुभाग कम होने की सम्भावना के लिए कुछ अवकाश ही नहीं है; क्योंकि परिभाषा में ही कर्म के उदीरणा व अपकर्षण की भी अयोग्यता स्पष्ट रूप से बताई गयी है। उदीरणा एवं अपकर्षण के कारण ही कर्मों के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।

३. पूर्वबद्ध कर्म में स्थिति-अनुभाग बढ़ने के लिए भी मानो रोक ही लगा दी गयी है; क्योंकि उत्कर्षण (स्थिति-अनुभाग का बढ़नेरूप कार्य) का अभाव भी परिभाषा में विशद शब्दों में बताया है।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि बंध आदि दस करणों में से बंध तथा सत्तारूप कार्य पहले ही हो चुके हैं। अब फिर से इस कर्म के लिए बंध, सत्ता होने का काम नहीं। संक्रमण आदि चार करणों का तो निकाचित के

स्वरूप में ही निषेध है - इन छहों (बंध, सत्ता, संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण) में से सबको मानो प्रवेश के लिए ही पाबंदी है।

उपशांत करण में गर्भित कर्म भी उदय के पहले अर्थात् सत्तारूप अवस्था में मिट्टी के ढेले के समान ही है; क्योंकि न उसका उदय आयेगा न उदीरणा होगी। यह करण वर्तमान में निष्क्रिय ही है।

निधत्ति करण का कार्य भी निकाचित करण स्वयं कर रहा है। ऐसी अवस्था में अब निकाचित कर्म प्रकृतियों को उदय में आना छोड़कर अन्य कोई मार्ग/उपाय ही नहीं है।

इसलिए पुण्य या पापरूप से पूर्वबद्ध निधत्ति व निकाचित प्रकृतियों का मात्र उदय में आकर फल देना ही काम रहता है। इसकारण ही सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार, पंचपांडव आदि भावलिंगी मुनिराजों को भी पापरूप निधत्ति-निकाचित प्रकृतियों का फल भोगना अनिवार्य हो गया था।

इसीप्रकार भरत चक्रवर्ती आदि तद्भव मोक्षगामी पुरुषों को भी निधत्ति-निकाचितरूप पुण्यकर्म का फल भोगना अनिवार्य हो गया था। इसी कार्य को शास्त्र में 'नियोग' शब्द से भी कहा गया है।

इसका अर्थ निधत्ति-निकाचितरूप से बद्ध कर्मप्रकृतियों का फल भोगना ही अनिवार्य है; ऐसी धारणा समाज में अति दृढ़ हो गयी है; तथापि यह बात सर्वथा इस ही प्रकार की नहीं है।

कर्म में निधत्ति-निकाचितरूप से बद्ध कर्म का फल भोगना ही अनिवार्य है, यह सापेक्ष कथन है। इसकी दूसरी विवक्षा भी हमें शास्त्र के आधार से समझना आवश्यक है।

खेद इस विषय का है कि समाज को दूसरी विवक्षा का ज्ञान कराया ही नहीं जाता। मात्र कर्म बलवान ही है; यही समझाया जाता है।

निधत्ति-निकाचितरूप कर्मों का नाश भी जीव, अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में प्रवेश के प्रथम समय में ही करता है, यह विषय बताया ही नहीं जाता।

“ये तीनों कर्म (उपशांत, निधत्ति तथा निकाचित) अपूर्वकरण

गुणस्थान पर्यंत ही पाये जाते हैं; क्योंकि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के तीनों करण, युगपत् व्युच्छिन्न अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।”^१

आचार्य वीरसेन स्वामी भी इसीप्रकार की बात कहते हैं -

“उसी अनिवृत्ति करण काल के प्रथम समय में अप्रशस्त उपशामना-करण, निधत्ति करण और निकाचना करण व्युच्छिन्न होते हैं।

सभी कर्मों के अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही ये तीनों ही करण, युगपत् व्युच्छिन्न हो जाते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

उसमें जो कर्म-अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के योग्य होकर पुनः उदीरणा के विरुद्ध स्वभावरूप से परिणत होने के कारण उदयस्थिति में अपकर्षित होने के अयोग्य है, वह उस प्रकार से स्वीकार की गई अप्रशस्त उपशामना की अपेक्षा उपशान्त ऐसा कहलाता है। उसकी उस पर्याय का नाम अप्रशस्त उपशामना करण है।

इसी प्रकार जो कर्म, अपकर्षण और उत्कर्षण के अविरुद्ध पर्याय के योग्य होकर पुनः उदय और परप्रकृतिसंक्रमणरूप न हो सकने की प्रतिज्ञारूप से स्वीकृत है, उसकी उस अवस्था विशेष को निधत्ति करण कहते हैं।

परन्तु जो कर्म उदीरणा होकर उदयादि इन चारों के अयोग्य होकर अवस्थान की प्रतिज्ञा में प्रतिबद्ध है, उसकी उस अवस्थान लक्षण पर्यायविशेष को निकाचना करण कहते हैं।

इसप्रकार ये तीनों ही करण, इससे पूर्व सर्वत्र प्रवर्तमान थे; यहाँ अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उनकी व्युच्छिन्निता हो जाती है। इनके व्युच्छिन्न होने पर सभी कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण, उदीरणा और परप्रकृतिसंक्रमण-इन चारों के योग्य हो जाते हैं; यह इस सूत्र का भावार्थ है।”^२

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-४५०

२. जयधवला, पुस्तक-१३, गाथा-१२३/७६, पृष्ठ-२३१

करण-ज्ञान से लाभ

(१) प्रश्न : बन्ध करण को जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर : १. कर्म-बंध में निमित्तरूप मोह परिणाम एक ही होता है और जीव को होनेवाला नया कर्म-बंध अनेक प्रकार का होता है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निमित्त एक होने पर भी नैमित्तिक कार्य अनेक प्रकार का होता है। इस कारण निमित्त कुछ नहीं करता और प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वतंत्ररूप से होता है - यह विषय सिद्ध होता है। जैसे - एक समय के मिथ्यात्व परिणाम से बंधनेवाला मिथ्यात्वकर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थिति-अनुभाग वाला होता है। कोई निषेक ७००० वर्ष स्थिति का तो कोई निषेक ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक स्थिति वाला होता है।

२. जैसे संसारी जीव को दुःख होता है, वह दुःख जीव के सुखस्वभाव की सिद्धि करता है; वैसे बंध करण को जानने से ही अबंध स्वभाव का अर्थात् अनादिकाल से मैं मुक्तस्वरूपी ही हूँ, ऐसा दृढ़ निर्णय होता है।

३. आज तक के जो अनंत जीव, सिद्धालय में सिद्ध परमेष्ठिरूप से विराजमान हैं, वे जीव भी भूतकाल में हम जैसे ही संसार अवस्था में कर्मों से बंधे हुए थे, दुःखी थे; तथापि विशिष्ट पुरुषार्थ से जैसे वे कर्मों से रहित होकर मुक्त हो गये हैं/अनन्त सुखी हो गये हैं; वैसे ही मैं भी सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक सिद्ध बन सकता हूँ; ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है।

४. नाना जीवों की अपेक्षा से बंध करण अनादि-अनन्त है। अभव्य जीव के लिए बंध करण नियम से अनादि-अनन्त ही होता है; तथापि हम जैसे भव्यों के लिए बंध करण अनादि होने पर भी अनन्त नहीं हो सकता, वह सान्त ही है; ऐसा निर्णय होने से सही पुरुषार्थ होता है।

५. प्रत्येक संसारी जीव को शुभाशुभ परिणामों से सात अथवा आठ कर्मों का प्रतिसमय नया-नया कर्म का बंध हो रहा है - ऐसा ज्ञान होता है।

६. बंध करण जानने से ही बंध तत्त्व का भावभासनपूर्वक यथार्थ

ज्ञान-श्रद्धान होता है।

(२) प्रश्न : सत्त्व (सत्ता) करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : १. सत्ता में स्थित कर्म, आत्मगुणों के अथवा आत्मगुणों की पर्यायों के घात में निमित्त नहीं होते - ऐसा निर्णय होता है।

२. यदि वर्तमान में निरपराधी होकर भी हमें दण्ड मिलता है तो भी सत्ता का स्वरूप समझने से हमें अनुचित आकुलता (दुःख-बेचैनी) नहीं होती; क्योंकि हम जानते हैं कि मेरी ही सत्ता में मेरा ही किया हुआ/बांधा हुआ पूर्व जन्म का पाप कर्म मौजूद था। उस पूर्व जन्म के पाप कर्म का फल भोगना अनिवार्य हो गया है - ऐसे विचार से स्वयं के ही दोष देखने की भावना जागृत होती है।

३. कर्म का अस्तित्व (सत्त्व) परंपरा की अपेक्षा से अनादि का है; इसलिए जीव के भी अनादिपने की सिद्धि में कर्म की सत्ता आधार है।

४. अनन्तानन्त कर्म और मैं एक जीव द्रव्य, एकक्षेत्रावगाह में - (आकाश के एक ही स्थान में) अनादि काल से रहते आये हैं। जड़ कर्म अनन्तानन्त हैं तथा मैं जीव, एक ही हूँ; तथापि कर्म मेरा नाश नहीं कर पाये - ऐसा भेदज्ञान उदित हो सकता है। जैसे खदान में स्वर्ण और कालिमा-किट्टिमा का संयोग अनादि से स्वयं हैं; वैसे कर्म और जीव का परस्पर अवगाह संबंध भी अनादि से स्वयमेव हैं।

(३) प्रश्न : उदय करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : १. कर्म का आबाधाकाल पूर्ण होते ही कर्म के फल देने को उदय कहते हैं; उदय होने पर वे कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। तदनुसार पाप कर्म के उदय के समय में मुझसे पाप दूर जा रहा है - ऐसा ज्ञान होना आवश्यक है। कर्म शत्रु, हमसे अलग हो रहा है - यह जानकर हमें आनन्दित होना चाहिए। पाप कर्मरूपी शत्रु को प्रसन्नता से बिदाई देने में ही समझदारी है।

२. जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करने में ज्ञानावरणादि घातिकर्म निमित्त हैं और अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में वेदनीयादि अघाति कर्म निमित्त हैं - ऐसा ज्ञान होने से बाह्य में किसी को भी शत्रु-मित्र मानने की खोटी कल्पना का नाश होता है।

३. पापोदय से प्राप्त प्रतिकूलता में मेरा ही पूर्वभव का अपराध कारण है - यह जानकर ज्ञाता-दृष्टारूप रहने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

४. किसी विशेष व्यक्ति अथवा बाह्य जड़ पदार्थ को दोषी मानने की भावना नष्ट होती है।

५. मुझे सुखी वा दुःखी करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है - ऐसी दृढ़ श्रद्धा होती है।

६. कर्म का उदय पौद्गलिक जड़ कर्म की अवस्था है और मैं तो अनादि से ज्ञाता-दृष्टा हूँ, चैतन्यस्वरूपी जीव हूँ - ऐसा निर्णय होता है तथा दोनों के स्वभावों का स्वरूप जानने से भेदज्ञान प्रगट होता है।

७. उदय के स्वरूप को समझने से उदय के संबंध में अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान होता है, आनन्द होता है।

८. किसी भी कर्म का किसी भी जीव को अनुकूल या प्रतिकूल उदय कभी भी आ सकता है - ऐसा जानकर वर्तमानकालीन संयोगों और संयोगी भावों के प्रति एकत्व-ममत्व का भाव नष्ट होता है अथवा उनमें मंदता आती ही है अर्थात् कषायें मंद होती हैं।

९. जड़ कर्म का उदय-काल तथा चेतनास्वरूप जीव का औदयिक भाव - इन दोनों का समय एक है अर्थात् कर्मोदय एवं औदयिकभावों में मात्र बाह्य अविनाभाव और कालप्रत्यासत्ति है - ऐसा स्पष्ट ज्ञान होने से कर्म, जीव को विकार भाव उत्पन्न कराते हैं - ऐसी मिथ्या भ्रान्ति निकल जाती है।

१०. 'मैं भगवान आत्मा' संयोग एवं संयोगी-भावों से भिन्न हूँ - ऐसी प्रतीति करने की अनुकूलता बनती है।

११. विश्व के अनेक जीवों की विभिन्न प्रकार के उदय तथा उदीरणाजन्य अवस्थाओं को देखकर वैराग्य/विरक्ति उत्पन्न होती है।

यदि पहले से ही वैराग्य/विरक्ति हो तो उदय को समझने से वैराग्य की वृद्धि होती है। इसप्रकार तथा और भी अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

(४) प्रश्न : उदीरणा करण को समझने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : १. निश्चित समय से पूर्व ही कर्म के उदय में आने को उदीरणा कहते हैं। उदीरणा से हमें यह समझ में आता है कि जीव के पूर्वबद्ध कर्मोदय के काल में बदल/परिवर्तन होता है। कर्म-बंध के समय में ही यह निश्चित होता है कि यह कर्म उदीरणा द्वारा फल देगा।

२. उदीरणा कर्म की अवस्था है और शुभाशुभ तथा शुद्ध परिणाम जीव के हैं - ऐसा भेदज्ञान उदित होता है।

३. यदि उदीरणा करण नहीं होता तो कर्म-निर्जरा में विशेषता प्राप्त नहीं होती। वीतरागता/धर्म बढ़ाने के लाभ का अभाव हो जाता।

४. किसी भी जीव को तीव्र कषाय से परिणत जानकर हम यह निर्णय कर सकते हैं कि इनको पूर्वबद्ध कषाय कर्म की उदीरणा हो रही है। हमें तो ऐसे प्रसंग में शान्त रहने में लाभ है - ऐसा सम्यक् बोध उत्पन्न होता है। अपने परिणामों को संभालने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

५. उपसर्ग विजयी मुनिराज एवं परिषहजयी साधु-सन्त अपने पाप कर्म की उदीरणा हो रही है - ऐसे यथार्थ ज्ञान से सहज स्वरूप में मग्न रहते हैं। उनका यह पुरुषार्थ देखकर प्रतिकूल परिस्थिति में हमें भी शान्तचित्त से रहने की प्रेरणा मिलती है।

(५) प्रश्न : उत्कर्षण एवं अपकर्षण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : १. उत्कर्षण एवं अपकर्षण करण को जानने से तत्संबंधी अज्ञान का नाश होता है तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है।

२. सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जो विभिन्न प्रकार की अनेक अवस्थाएँ झलकती हैं, उन्हें जानने से सर्वज्ञ भगवान की/सच्चे देव एवं सच्चे शास्त्र की विशेष महिमा आती है।

३. पूर्वबद्ध कर्मों में स्थिति-अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है तथा स्थिति-अनुभाग का घटना, अपकर्षण है - यह समझने से प्रत्येक संसारी जीव, पूर्वबद्ध कर्मों के संयोग से सहित ही है; ऐसा ज्ञान होता है।

४. पूर्वबद्ध कर्मों में परिवर्तन होने में निमित्तरूप जीव के शुभाशुभ परिणाम हमेशा होते ही रहते हैं, ऐसा ज्ञान होता है।

५. परिणामों में सतत परिवर्तन होता रहता है - इसका अर्थ अपने परिणामों की अस्थिरता/चंचलता भी हमें समझ में आती है।

६. परिणामों में सम्यक् परिवर्तन होने से ही जीव संसार से मुक्त अवस्था प्राप्त कर सकता है - ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होता है।

७. कर्मों में प्रति समय फेरफार होते हुए भी परिणामों की क्रमबद्धता में बाधा नहीं आती। मैं तो स्वभाव से इन सभी (शुभाशुभ तथा शुद्ध)

परिणामों से भी सर्वदा तथा सर्वथा भिन्न टंकोत्कीर्ण स्वभावी हूँ - ऐसी प्रतीति बराबर बनी रहती है।

अन्य जीव भी स्वभाव से अबद्धस्पृष्ट ही हैं - ऐसा ज्ञान होता है अर्थात् परिणामों से अपरिणामी भगवान आत्मा का पता लगता है।

८. उत्कर्षण-अपकर्षण में निमित्त रूप परिणामों को जानते हुए भी श्रद्धा में अपरिणामी तत्त्व साधक के जीवन में ऊर्ध्व रहता है, इसका यथार्थ निर्णय होता है।

९. उत्कर्षण-अपकर्षण से परिवर्तित पुण्य-पाप कर्मों का मैं मात्र ज्ञाता हूँ, यह भाव जागृत होता है। इसप्रकार पुण्य-पाप कर्म में समभाव उत्पन्न होता है।

१०. मात्र तात्कालिक औदयिक परिणामों से किसी को अच्छा-बुरा समझना अपराध है; ऐसी यथार्थ जानकारी होती है।

११. जीव का परिणाम, निमित्त है और पूर्वबद्ध कर्मों में उत्कर्षण एवं अपकर्षण होना, नैमित्तिक कार्य है - इसतरह स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी ज्ञान होता है।

(६) प्रश्न : संक्रमण करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : पिछले प्रकरण में अब तक हमने देखा - बंध करण में तो कर्म का नया बंध होता है। सत्त्व करण में बद्ध कर्म, जीव के साथ मिट्टी के ढेले के समान पड़ा रहता है। उदय करण तो सत्त्व करण का फलरूप कार्य है। उदीरणा करण, एक दृष्टि से उदय ही है। उत्कर्षण एवं अपकर्षण में मात्र स्थिति-अनुभाग यथा-योग्य बढ़ते-घटते हैं। अब संक्रमण की अपूर्वता बताते हैं -

संक्रमण करण का काम एक प्रकार से क्रांतिकारी कार्य है। उसका खुलासा इसप्रकार है -

१. इस संक्रमण करण से कर्म में बदल होने का नया कार्य होता है; इसकारण यह संक्रमण करण आमूलचूल क्रांतिकारी कार्य है।

२. संक्रमण के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता; क्योंकि अनंतानुबंधी की विसंयोजना सर्व-संक्रमणरूप ही है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अनन्तानुबंधी की विसंयोजना अनिवार्य रहती है।

मिथ्यात्व का संक्रमण सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति में होता रहता है। इसी क्रम से मिथ्यात्व कर्म, सभी कर्मों में सर्वप्रथम नष्ट होता है।

तदनन्तर मिश्र/सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म का संक्रमण सम्यक्प्रकृति में होता है। सम्यक्प्रकृति स्वोदय से नष्ट होती है।

इसतरह संक्रमण के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

३. श्रेणी में भी अप्रत्याख्यानावरण + प्रत्याख्यानावरण - इन आठों कषाय कर्मों का संक्रमण के द्वार से ही अभाव होता है।

४. संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं स्थूल लोभ उत्तरोत्तर संक्रमित होते हुए सूक्ष्मलोभरूप से परिणत होते हैं; इसलिए चारित्र की पूर्णता में संक्रमण करण, अपना विशेष महत्त्व रखता है।

५. कर्मरूप पुद्गलों में संक्रमण, अपनी-अपनी पात्रता से ही स्वतंत्ररूप से होता है; यह विषय स्पष्टरूप से ज्ञात होता है।

संक्रमणरूप कार्य का कर्ता, कर्मरूप पुद्गल ही है; जीव द्रव्य नहीं। जीव द्रव्य के परिणाम संक्रमण में निमित्त हैं। संक्रमण से उदय और औदयिकभावों की स्वाधीनता का यथार्थ ज्ञान होता है।

६. संक्रमण में त्रिबुक्क (स्तिबुक) संक्रमण नाम का एक संक्रमण है। इस कारण कर्म, उदयावली में प्रवेश करने के पहले ही समय में अन्य प्रकृति में बदल जाता है। जैसे - क्षयोपशम दशा में सर्वघाति स्पर्धक देशघातिरूप में बदल जाते हैं। इससे संक्रमण की सूक्ष्मता का बोध होता है।

७. कर्म का विशिष्ट रूप से संक्रमण हो, ऐसे विकल्प के कारण किसी भी कर्म का संक्रमण नहीं होता। जैसा संक्रमण होना होता है, वैसा ही होता है। इसतरह जीव कर्म का अकर्ता ही है; यह विषय समझ में आता है।

८. साधक जीव अथवा सम्यग्दृष्टि जब अपनी पुरुषार्थहीनता से मिथ्यात्वी हो जाता है तब उद्वेलन संक्रमण द्वारा सम्यक्प्रकृति कर्म, सम्यक्-मिथ्यात्व कर्म में और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म, मिथ्यात्व कर्म में परिवर्तित होता है। इससे पुरुषार्थ की विपरीतता का ज्ञान होता है।

९. परिणामों की विपरीतता से बांधी हुई देवगति, तिर्यचगति में तथा नरकगति में भी बदल जाती है; अतः परिणामों को संभालना चाहिये।

१०. विकल्प, किसी भी कार्य को करने में समर्थ नहीं है; इस अपेक्षा से विकल्प करना व्यर्थ है; ऐसा स्पष्ट निर्णय होता है।

संक्रमण करण के संबंध में ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी का विचार -

“संक्रमण की प्रक्रिया मनोविज्ञानानुसार मानसिक ग्रन्थियों से छुटकारा पाने का मानवजाति के लिए अतीव उपयोगी, सरलतम एवं महत्वपूर्ण उपाय है।”

संक्रमण का यह सिद्धान्त स्पष्टतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद एवं पुरुषार्थ प्रेरक है। व्यक्ति पहले चाहे जितने दुष्कृत्यों (पापों) से घिरा हुआ हो; परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है, सद्भावना और सद्वृत्ति से युक्त है तो वह कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा सकता है और उत्कृष्ट रसायन (परिणाम) आने पर कर्मों से सदा-सदा के लिए छुटकारा पा सकता है। जैसे - मरीची का जीव, भगवान महावीर हुआ।

किसी व्यक्ति ने पहले अच्छे कर्म बाँधे हों, किन्तु वर्तमान में वह दुष्प्रवृत्तियों को अपनाकर बुरे (पाप) कर्म बाँध रहा है तो पहले के पुण्य कर्म भी पाप कर्म में बदल जाएँगे; फिर उनका कोई भी अच्छा व सुखद फल नहीं मिल सकेगा। अतः संक्रमण करण द्वारा मनुष्य अपने जीवन का सदुपयोग या दुरुपयोग कर अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में या सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदल सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपना भाग्य-विधाता स्वयं ही है, भाग्य को बदलने में वह पूर्ण स्वाधीन है।^३”

(७) प्रश्न : उपशान्त करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : नये रूप से सत्तास्थित कर्मद्रव्य की जबतक उदीरणा नहीं होती तबतक की कर्म की अवस्था को उपशान्त करण कहते हैं। उपशान्त करण आठों कर्मों में होता है।

१. नवीनरूप से बंधनेवाले कर्म की उदय-उदीरणा तत्काल होने लगे तो सहजरूप से स्थापित उदय-उदीरणा की व्यवस्था बाधित हो जायेगी।

२. आठों कर्मों में कर्म की उपशान्त करणरूप पर्याय, कर्म के अपने उपादानगत शक्ति से होती है। इससे कर्मरूप पुद्गल द्रव्य की स्वतंत्रता स्पष्ट समझ में आती है।

(८) प्रश्न : निधत्ति-निकाचित करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : निधत्ति-निकाचित करणरूप अवस्था घाति-अघाति दोनों कर्मों में होती है।

मिथ्यात्व के साथ तीव्रतर संक्लेश परिणामों से पापमय निधत्तिरूप कर्मों का बंध होता है।

मिथ्यात्व के साथ तीव्रतम संक्लेश परिणामों से अतिपापरूप निकाचित कर्मों का बंध होता है।

१. यह स्वरूप जानकर पात्र जीव मिथ्यात्व तथा संक्लेश परिणामों से विरक्त हो सकते हैं। सती सीता के जीवन के दुःखमय प्रसंग तथा मुनि-अवस्था में विराजमान पंच पांडवों पर उपसर्ग - ये दोनों उदाहरण पापरूप निधत्ति-निकाचित के हो सकते हैं।

२. सम्यक्त्व सहित विशेष विशुद्धि के निमित्त से पुण्यरूप निधत्ति-निकाचित प्रकृतियों का बंध होता है। यह जानकर जीवों को सम्यक्त्व की महिमा आती है और जीवन स्वयमेव धर्म तथा पुण्यमय बनता है।

तीर्थकर होनेवाले श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ, श्री अरनाथ को चक्रवर्ती एवं कामदेवत्व रूप निधत्ति-निकाचित पुण्यकर्म का बंध हुआ था। इस कारण इन तीनों महापुरुषों को तीनों पुण्यमय पदवियों का भोग अनिवार्य हो गया था।

३. अत्यन्त घोर पापरूप निधत्ति-निकाचितरूप कर्मों का नाश करने का सामर्थ्य भी जीव के धर्ममय परिणामों में (अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम समय में) हैं - यह जानकर सम्यक्चारित्र का विशेष बहुमान का भाव उत्पन्न होता है।

दस करणों का प्रकरण सूक्ष्म होने से इन्हें जानने के कारण अपनी बुद्धि भी सूक्ष्म विषयों को जानने के लिए समर्थ होती है।

कर्मोदय का मर्म

प्रश्न - कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि देखो पुद्गल की शक्ति ! वह केवलज्ञान को भी रोकती है, क्योंकि केवलज्ञान को रोकने वाला केवलज्ञानावरण कर्म है न ?

उत्तर - यह तो पुद्गल में निमित्तरूप होने की उत्कृष्ट में उत्कृष्ट कितनी शक्ति है, यह बतलाया है। केवलज्ञानावरण कर्म का उदय आया, इसलिए केवलज्ञान रुका है ह्व ऐसा नहीं है।

उदय तो जड़ में है और उदय का अनुसरण करने की भी योग्यता जीव की स्वयं की है। इसलिए ज्ञान अपने कारण से हीनपने को प्राप्त हुआ है।

१. ज्ञानावरण कर्म का उदय भावकपने आता है, वह उसकी सत्ता में है और जीव में अपने कारण उसका अनुसरण करके ज्ञान की हीनदशा होनेरूप भाव्यदशा होती है ह्व यह भाव्य-भावक संकरदोष है।

जब, पर्याय को पूर्ण निर्मल करने के लिए पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय करने से निमित्त का आश्रय छूट जाता है तब वह भाव्यपना नहीं रहता और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

इसीप्रकार मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय ज्ञान में भी समझ लेना चाहिए। इसप्रकार ज्ञानावरण कर्म जीता जाता है।

२. केवलदर्शनावरण कर्म का उदय आने पर, उसका अनुसरण करे, तो दर्शन की हीनता होनेरूप भाव्य होता है। ज्ञानी व मुनि के भी पर्याय में दर्शन की हीनदशारूप भाव्य होने की योग्यता होती है, उस योग्यता के कारण भाव्य होता है, कर्म के कारण नहीं।

यदि जीव उदय की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में आ जाये स्वभाव का सम्पूर्ण आश्रय प्राप्त कर ले तो केवलदर्शनावरण कर्म जीत लिया जाता है।

इसीप्रकार चक्षु-अचक्षु-अवधि दर्शनावरण कर्म जीतने के संबंध में भी समझना चाहिए।^१

३. भाव्य आत्मा को भेदज्ञान के बल द्वारा स्वभाव की ओर झुकाने से उदय की ओर का लक्ष्य छूट जाता है तथा अपने स्वभाव पर लक्ष्य जाता है। इसे ही मोह का जीतना कहते हैं।^२

४. अन्तराय कर्म के निमित्त से दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य ये पाँच पर्यायें हीन होती हैं। अन्तराय कर्म का उदय आता है, इसलिए ये पाँच पर्यायें हीन होती हैं, ऐसा नहीं है। परन्तु जब वह हीनदशा होती है, तब कर्म के उदय को निमित्त कहते हैं।

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय कर्म का उदय तो जड़ में आता है और उसी समय हीनदशा होने की स्वयं उपादान में योग्यता है, इसकारण उदय का अनुसरण करने पर हीनदशारूप भाव्य होता है।

पर का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाल वीतरागमूर्ति अकषायस्वभावी भगवान् आत्मा का आश्रय करे तो भाव्य-भावक की एकता का संकर दोष टल जाता है। इसप्रकार यह अन्तराय कर्म का जीतना है।^३

५. साता-असाता वेदनीय कर्म का उदय तो जड़ में होता है। वस्तुतः यह तो संयोग की प्राप्ति में निमित्त है। उसके उदय से जीव की पर्याय में जो किंचित् नुकसान होता है, वह अपने खुद के कारण है, उदय के कारण नहीं है।

६. इसीप्रकार आयुर्कर्म का उदय है, इसलिए जीव को शरीर में रहना पड़ता है वह ऐसा नहीं है। भावक कर्म का उदय जड़ कर्म में है और उसका अनुसरण करने से पर्याय में रहने की योग्यता स्वयं की है, इस कारण जीव वहाँ रहा है। आयुर्कर्म तो निमित्तमात्र है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-५३

२. वही, पृष्ठ-४८

३. वही, पृष्ठ-५३-५४

७. नाम कर्म का उदय भी जड़ में होता है और उसके निमित्त से जीव की सूक्ष्म अरूपी निर्लेपदशा प्रगट नहीं होती। वह जीव की स्वयं की योग्यता से प्रगट नहीं होती है, क्योंकि उस काल में उदय का अनुसरण होता है।

८. गोत्रकर्म के संबंध में भी ऐसा ही समझ लेना।^१

“प्रभु! कर्म का उदय तो जड़ की पर्याय है और जीव की पर्याय में जो विकारी भाव होता है, वह तो उसे छूता भी नहीं है; क्योंकि उनमें परस्पर अत्यन्ताभाव है। ...

प्रवचनसार की गाथा १८९ में ऐसा आता है कि शुद्धनय से आत्मा, विकार का कर्ता स्वतः है। पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में भी कहा है कि आत्मा की विकारी पर्याय का परिणमन अपने षट्कारकों से स्वतः है तथा अन्य कारकों से निरपेक्ष है। अर्थात् जीव की पर्याय में जो विकार का परिणमन होता है, उसे कर्म के उदय की अपेक्षा नहीं है।

जैसा कर्म का उदय आता है, उसी के अनुपात में डिग्री टू डिग्री विकार करना पड़ता है - यह तो दो द्रव्यों की एकता की बात है, जो कि सर्वथा मिथ्या है। प्रवचनसार गाथा ४५ की श्री जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका में तो ऐसा कहा है कि मोहकर्म का उदय होने पर भी जीव यदि स्वयं शुद्धपने परिणमे तो वह कर्म, उदय में आकर खिर जाता है।

‘कर्म का उदय आता है, इस कारण जीव को विकार करना ही पड़ता है’ - ऐसा बिलकुल नहीं है।

अपने वर्तमान पुरुषार्थ की जितनी योग्यता हो, उतना विकाररूप परिणमन होता है। कर्म का उदय होने पर भी विकार रूप न परिणमे - यह जीव की परिणति की स्वतंत्रता है।^२

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-५३

२. वही, पृष्ठ-४८

३. वही, पृष्ठ-५३-५४

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-५४

२. वही, पृष्ठ-३७३

“आठों ही कर्मों का उदय तो जड़ में है और भावकर्म के अनुसरण से होने योग्य जो भाव्य है, वह आत्मा की स्वयं की दशा है, कर्म के कारण नहीं।

उदय को न गिनकर, उसकी परवाह न करके, उसका लक्ष्य छोड़कर, निष्कर्म निज ज्ञायकभाव का अनुसरण करने से ज्ञानी की ऐसी कर्म रूप भाव्य दशा ही नहीं होती; यही कर्म का जीतना कहलाता है।

घाति कर्म के कारण आत्मा में घात होता है, ऐसा नहीं है। घाति कर्म के उदयकाल में पर्याय में जितनी हीनदशारूप में परिणमने की अर्थात् भाव घातिरूप होने की स्वयं की योग्यता है, वह कर्म के कारण नहीं है। कर्म के कारण कर्म में पर्याय होती है, आत्मा में नहीं।

आहाहा! पर के कारण दूसरे में कुछ हो, ऐसा जैनधर्म में है ही नहीं। गुणों की पर्याय होती है, उसमें वह स्वयं ही कारण है, क्योंकि वह स्वयं ही कर्म का अनुसरण करता है।

स्वयं ही जितने अंश में निमित्त का आश्रय छोड़कर साक्षात् वीतराग स्वरूप स्वभाव का अनुसरण करके वीतराग पर्याय प्रगट होती है, उतने अंश में ही भाव्य-भावक संकरदोष टलता है।”^१

“जब कर्म, निमित्त बनकर उदय में आता है, तब कर्म के कारण से जीव को विकार करना ही पड़ता है; ऐसा नहीं है। जीव जब स्वयं कर्म के उदय का अनुसरण करके परिणमता है, तो भाव्य ह्व विकारी होता है। तथा भेदज्ञान के बल से कर्म से दूर से ही पीछे हटकर, उदय का अनुसरण नहीं करे तो भाव्य ह्व विकारी नहीं होता।

उदय जड़कर्म की पर्याय है व विकारआत्मा की पर्याय है। जड़ की पर्याय व आत्मा की पर्याय के बीच अत्यंतभाव है। इसकारण न उदय के अनुसार विकार होता है और न करना ही पड़ता है।”^२ ●

सन्तों की भावना

सोना नहीं है और गहने बन गये, वस्तु नहीं है और अवस्था हो गई - ऐसा नहीं हो सकता। अवस्था है, वह त्रैकालिक वस्तु को प्रगट करती है - प्रसिद्ध करती है कि यह अवस्था इस वस्तु की है।

जैसे कि - पुद्गल जड़ कर्मरूप होते हैं, वे कर्म परिणाम, कर्ता के बिना नहीं होते। अब उनका कर्ता कौन? - तो कहते हैं कि - उस पुद्गल कर्मरूप परिणामित होने वाले रजकण ही कर्ता है; आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

(१) आत्मा कर्ता होकर जड़ कर्म का बन्ध करे - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

(२) जड़कर्म आत्मा को विकार कराये - ऐसा वस्तु स्वरूप में नहीं है।

(३) मन्द कषाय के परिणाम सम्यक्त्व का आधार हों - ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

(४) शुभराग से क्षायिक सम्यक्त्व हो - ऐसा वस्तु स्वरूप में नहीं है। तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है, यह सब तो विपरीत है/अन्याय है। भाई! तेरा यह अन्याय वस्तुस्वरूप को सहन नहीं होगा। वस्तुस्वरूप को विपरीत मानने से तेरे आत्मा को बहुत दुःख होगा - ऐसी करुणा सन्तों को आती है।

सन्त नहीं चाहते कि कोई जीव दुःखी हो। जगत के सारे जीव सत्य स्वरूप को समझे और दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें - ऐसी उनकी भावना है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामीजी
के समयसार कलश २११ के प्रवचन से।

करणानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

प्रश्न :- कितने ही जीव कहते हैं - करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणादिक का व कर्मप्रकृतियों का कथन किया व त्रिलोकादिक का कथन किया; सो उन्हें जान लिया कि 'यह इस प्रकार है', 'यह इस प्रकार है' इसमें अपना कार्य क्या सिद्ध हुआ? या तो भक्ति करें, या व्रत-दानादि करें या आत्मानुभवन करें - इससे अपना भला हो।

उत्तर :- उनसे कहते हैं - परमेश्वर तो वीतराग हैं; भक्ति करने से प्रसन्न होकर कुछ करते नहीं हैं। भक्ति करने से कषाय मन्द होती है, उसका स्वयमेव उत्तम फल होता है। सो करणानुयोग के अभ्यास में उससे भी अधिक मन्द कषाय हो सकती है, इसलिये इसका फल अति उत्तम होता है। तथा व्रत-दानादिक तो कषाय घटाने के बाह्यनिमित्त के साधन हैं और करणानुयोग का अभ्यास करने पर वहाँ उपयोग लग जाये तब रागादिक दूर होते हैं सो यह अंतरंगनिमित्त का साधन है; इसलिये यह विशेष कार्यकारी है। व्रतादिक धारण करके अध्ययनादि करते हैं। तथा आत्मानुभव सर्वोत्तम कार्य है; परन्तु सामान्य अनुभव में उपयोग टिकता नहीं है, और नहीं टिकता तब अन्य विकल्प होते हैं; वहाँ करणानुयोग का अभ्यास हो तो उस विचार में उपयोग को लगाता है।

यह विचार वर्तमान भी रागादिक घटाता है और आगामी रागादिक घटाने का कारण है, इसलिये यहाँ उपयोग लगाना।

जीव-कर्मादिक के नानाप्रकार से भेद जाने, उनमें रागादिक करने का प्रयोजन नहीं है, इसलिये रागादिक बढ़ते नहीं हैं; वीतराग होने का प्रयोजन जहाँ-तहाँ प्रगट होता है, इसलिये रागादि मिटाने का कारण है।

प्रश्न :- यहाँ कोई कहे - कोई कथन तो ऐसा ही है, परन्तु द्वीप-समुद्रादिक के योजनादि का निरूपण किया उनमें क्या सिद्धि है?

उत्तर :- उनको जानने पर उनमें कुछ इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं होती, इसलिये पूर्वोक्त सिद्धि होती है।

- मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२९०

करणानुयोग का प्रयोजन

१. करणानुयोग में जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादिक की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया है।

२. जो जीव धर्म में उपयोग लगाना चाहते हैं वे जीवों के गुणस्थान-मार्गणा आदि विशेष तथा कर्मों के कारण-अवस्था-फल किस-किसके कैसे-कैसे पाये जाते हैं इत्यादि विशेष तथा त्रिलोक में नरक-स्वर्गादि के ठिकाने पहिचान कर पाप से विमुख होकर धर्म में लगते हैं।

३. ऐसे विचार (करणानुयोग) में उपयोग रम जाये तब पाप-प्रवृत्ति छूटकर स्वयमेव तत्काल धर्म उत्पन्न होता है; उस अभ्यास से तत्त्वज्ञान की भी प्राप्ति शीघ्र होती है

४. (करणानुयोग का) ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन जिनमत में ही है, अन्यत्र नहीं है; इसप्रकार महिमा जानकर जिनमत का श्रद्धानी होता है।

५. जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर इस करणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह उसके विशेषणरूप भासित होता है।

६. इस (करणानुयोग के) अभ्यास से तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। जैसे - कोई यह तो जानता था कि यह रत्न है, परन्तु उस रत्न के बहुत से विशेष जानने पर निर्मल रत्न का पारखी होता है; उसीप्रकार तत्त्वों को जानता था कि यह जीवादिक हैं, परन्तु उन तत्त्वों के बहुत विशेष जाने तो निर्मल तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान निर्मल होने पर आप ही विशेष धर्मात्मा होता है।

७. तथा अन्य ठिकाने उपयोग को लगाये तो रागादिक की वृद्धि होती है। और छद्मस्थ का उपयोग निरन्तर एकाग्र नहीं रहता; इसलिये ज्ञानी इस करणानुयोग के अभ्यास में उपयोग को लगाता है। उससे केवलज्ञान द्वारा देखे गये पदार्थों का जानपना इसके होता है; प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ही का भेद है, भासित होने में विरुद्धता नहीं है।

इसप्रकार यह करणानुयोग का प्रयोजना जानना।

- मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२६९-२७०

करणानुयोग के व्याख्यान का विधान

“करणानुयोग में छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं किया है, केवलज्ञानगम्य पदार्थों का निरूपण हैं।

१. जिसप्रकार कितने ही जीव तो द्रव्यादिक का विचार करते हैं व व्रतादिक पालते हैं; परन्तु उनके अन्तरंग सम्यक्त्व-चारित्र शक्ति नहीं है, इसलिये उनको मिथ्यादृष्टि-अव्रती कहते हैं।

२. कितने ही जीव द्रव्यादिक के व व्रतादिक के विचार रहित हैं, अन्य कार्यों में प्रवर्तते हैं, व निद्रादि द्वारा निर्विचार हो रहे हैं; परन्तु उनके सम्यक्त्वादि शक्ति का सद्भाव है, इसलिये उनको सम्यक्त्वी व व्रती कहते हैं।

३. किसी जीव के कषायों की प्रवृत्ति तो बहुत है और उसके अन्तरंग कषायशक्ति थोड़ी है, तो उसे मन्दकषायी कहते हैं। तथा किसी जीव के कषायों की प्रवृत्ति तो थोड़ी है और उनके अन्तरंग कषायशक्ति बहुत है, तो उसे तीव्रकषायी कहते हैं। जैसे - व्यंतरादिक देव कषायों से नगर नाशादि कार्य करते हैं, तथापि उनके थोड़ी कषायशक्ति से पीत लेश्या कही है। और एकेन्द्रियादिक जीव कषाय कार्य करते दिखायी नहीं देते, तथापि उनके बहुत कषायशक्ति से कृष्णादि लेश्या कही है।

४. सर्वार्थसिद्धि के देव कषायरूप थोड़े प्रवर्तते हैं, उनके बहुत कषायशक्ति से असंयम कहा है। और पंचम गुणस्थानी व्यापार अब्रह्मादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवर्तते हैं, उनके मन्दकषायशक्ति से देशसंयम कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

५. किसी जीव के मन-वचन-काय की चेष्टा थोड़ी होती दिखाई दे, तथापि कर्माकर्षण शक्ति की अपेक्षा बहुत योग कहा है। किसी के चेष्टा बहुत दिखाई दे, तथापि शक्ति की हीनता से अल्प योग कहा है। जैसे केवली गमनादि क्रियारहित हुए, वहाँ भी उनके योग बहुत कहा है। द्वीन्द्रियादिक जीव गमनादिक करते हैं, तथापि उनके योग अल्प कहा है। इसप्रकार अन्यत्र जानना।” - मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२७६

अधिकार दूसरा

बंध

आगमाश्रित

चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

आगमाश्रित-इस विभाग में जो विषय आयेगा, उसका विशद ज्ञान हो; इस अभिप्राय से सरलता के लिए यहाँ चर्चात्मक अनेक प्रश्नोत्तरों के आधार से बंध करण की चर्चा करने का प्रयास किया है।

अध्ययन-अध्यापन के समय, मन में जो प्रश्न सहज उत्पन्न हुए - उनका ही उत्तर देने का मैंने प्रयत्न किया है।

१. प्रश्न : बंध करण और बंध तत्त्व में क्या अंतर है?

उत्तर : (१) बंधकरण, कर्म की दस अवस्थाओं में से एक अवस्था है; जो प्रथम क्रमांक की है। जबकि बंध तत्त्व, प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में से एक तत्त्व है।

(२) बंध करण, द्रव्यकर्म की एक अवस्था होने के कारण से ज्ञेय है। जबकि बंध तत्त्व, ज्ञेय होते हुए बंधत्व की दृष्टि से हेय भी है।

(३) बंध करण में जीव के मोह, राग-द्वेषरूप विकारी भावों के निमित्त से कार्मण-वर्गणाओं (कर्मों) का जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर-गाहरूप संश्लेष संबंध के कथन की (द्रव्य बंध की) मुख्यता है। जबकि बंध तत्त्व में जीव के उपयोग (ज्ञान-दर्शन) का मोह, राग-द्वेष रूप परिणामों में जुड़ने की/संलग्न रहने (भाव बंध) की मुख्यता है।

(४) संसारी जीव को प्रतिसमय बंध हो रहा है; अतः बंध करण अनादि से चल ही रहा है। जबकि अज्ञानी जीव, बंध तत्त्व को विकल्परूप

से जानते हुए भी उसके अभाव का पुरुषार्थ नहीं करता; अतः बंध तत्त्व भी अनादि से है।

(५) बंध करण मुख्यरूप से करणानुयोग का विषय है अर्थात् कर्मों की विशिष्ट अवस्था है। जबकि बंध तत्त्व, मुख्यरूप से द्रव्यानुयोग का विषय है।

(६) कर्मों का बंध, तत्त्व दृष्टि से बंध तत्त्व है तथा करण की दृष्टि से बन्ध करण है। जबकि बंध करण के सामान्यतया चार भेद हैं - १. प्रकृति बंध, २. प्रदेश बंध, ३. स्थिति बंध, ४. अनुभाग बंध।

(७) बंध करण के स्वरूप का ज्ञान अनिवार्य नहीं है। जबकि बंध तत्त्व का ज्ञान (भावभासन) अनिवार्य है; क्योंकि प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में से बंध तत्त्व एक तत्त्व है।

(८) बंध करण, जीव को दुःख का निमित्त कारण है। जबकि बंध तत्त्व, भाव स्वरूप से आकुलतामय होने से वह हेयरूप से स्वीकार करने-योग्य है।

२. प्रश्न : जिसप्रकार बंध, कर्म की अवस्था है; उसीप्रकार आस्रव भी कर्म की ही अवस्था है; इसलिए जैसे कर्मबंध को दस करणों में लिया है; वैसे आस्रव को भी करणों में लेना चाहिए था; क्यों नहीं लिया?

उत्तर : आपकी बात सही है; परन्तु आस्रव और बंध दोनों को अभेद जानकर (एक ही जानकर) स्वतंत्ररूप से आस्रव को करणों में नहीं लिया है। बंध में ही आस्रव को गर्भित किया है। आस्रव और बंध होने का कार्य भी एक साथ एक ही समय में होता है; इस विवक्षा को भी हमें स्वीकारना आवश्यक है।

दूसरी बात यह भी है कि 'दस करण' यह विषय करणानुयोग का है और करणानुयोग के सभी विषयों की परीक्षा नहीं हो सकती; इसलिए करणानुयोग को अहेतुवाद आगम भी कहा है; अतः आचार्यों ने जो

कुछ भी कहा है, उसे यथार्थ रूप से जानना एवं स्वीकार करना ही हमारा कर्तव्य है।

३. प्रश्न : आबाधाकाल भी कर्म की एक अवस्था है; इसलिए आबाधाकाल को भी करण मानकर करणों को ११ कहना चाहिए था; आबाधाकाल को करणों में क्यों नहीं लिया?

उत्तर : पहले हमें आबाधाकाल की परिभाषा स्पष्ट समझना आवश्यक है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है -

कम्मसरूवेणागय दव्वं ण य एदि उदयरूवेण।

रूवेणुदीरणस्स य आबाहा जाव ताव हवे ॥११४॥

“कर्मस्वरूप से परिणत हुआ कार्मण द्रव्य, जब तक उदय या उदीरणरूप नहीं होता, तब तक का काल आबाधाकाल कहलाता है।”

एक कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबंध का १०० वर्ष प्रमाण आबाधाकाल होता है, यह नियम है।^१ इसीप्रकार अन्य कर्मों का आबाधाकाल निकालना चाहिए।

आपका मूल प्रश्न तो आबाधाकाल को अलगरूप से/कर्म की अवस्थारूप से क्यों नहीं लिया? यह है।

आप आबाधाकाल की परिभाषा को सूक्ष्मता से जानने का प्रयास करेंगे तो सब सहज समझ में आयेगा।

परिभाषा के प्रारम्भ में ही आया है 'कर्मस्वरूप से परिणत हुआ कार्मण द्रव्य' इसका अर्थ जो जीव के साथ कर्मस्वरूप से परिणत हुआ है, उसकी बात चल रही है - अर्थात् जो कर्मरूप से जीव के साथ बंध चुका है, उसकी चर्चा चल रही है - अर्थात् बंध करण की ही बात है। इसका अर्थ बंध करण में ही आबाधाकाल गर्भित है, आबाधाकाल को बंध करण में शामिल करने के बाद अन्य कुछ कर्म की अवस्था नहीं है।

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-९१५

४. प्रश्न : बंध करण और आबाधाकाल एक अपेक्षा से एक होने पर भी कुछ अंतर तो होगा ही - वह अंतर क्या है?

उत्तर : बँधा हुआ कर्म, जब तक जीव के साथ परस्परावगाहरूप से रहता है; उदय में नहीं आता; तबतक के काल को आबाधाकाल कहते हैं।

स्थितिबंध में से आबाधाकाल के बाद कर्मों में निषेक-रचना होती है; इसलिए आबाधाकाल पूर्ण होने पर समय-समय प्रति निषेकों का उदय आता रहता है। (एक समय में उदय आने-योग्य कर्मसमूह को निषेक कहते हैं)।

संक्षेप में हम ऐसा कह सकते हैं कि - 'निषेकरचना-रहित स्थितिबंध के काल को आबाधाकाल कहते हैं।' 'आबाधाकाल को छोड़कर शेष स्थितिबंध में निषेकरचना होती है।' इसका अर्थ यह हुआ - स्थितिबंधरूप बंध करण के दो भेद किये जा सकते हैं - पहला भेद आबाधारूप स्थितिबंध और दूसरा भेद निषेकरचारूप स्थितिबंध।

५. प्रश्न : आबाधाकालरूप सत्ता और उदयावली के बाद में अर्थात् उपरितन विभाग में स्थित कर्मों की सत्ता में क्या कुछ अंतर भी है?

उत्तर : आपका प्रश्न ही गलत है; क्योंकि आबाधाकालरूप सत्ता और उपरितन विभाग में स्थित कर्मों की सत्ता - ऐसे कर्म की सत्ता (सत्त्व) के दो भेद हैं ही नहीं। जिस विवक्षित कर्म का वर्तमान में नवीन बंध हो रहा है और जिसकी आबाधा भी सुनिश्चित है, उस आबाधाकाल के बाद ही प्रत्येक समय में निषेकों की रचना होती है।

जहाँ निषेकों की रचना न हो, वहाँ उन कर्मों की सत्ता कैसी होगी? विवक्षित कर्म की आबाधाकाल के पहले, भूतकाल में बँधे हुए

कर्मों की सत्ता भी है, निषेकरचना भी है और उनके यथाकाल उदयादि कार्य भी होते ही रहेंगे।

जो नवीन कर्म का बंध हो रहा है और जिसकी आबाधाकाल की चर्चा चल रही है, उस कर्म की सत्ता और निषेक-रचना तो आबाधाकाल के समय से ही रहती है; इसलिए आबाधाकालरूप सत्ता और उपरितन विभाग में स्थित सत्ता - ऐसे सत्ता (सत्त्व/कर्म का अस्तित्व) के दो भेद नहीं हैं।

वैसे सत्ता में पड़ा हुआ सर्व कर्म भी उदयकाल के बिना मिट्टी के ढेले के समान ही है; तथापि उसमें निषेक-रचना होने से आज नहीं तो कल क्रमशः उदयकाल आने पर फल देने की पात्रता है।

६. प्रश्न : आबाधाकाल में कर्म की निषेकरचना होती नहीं - इसका अर्थ जब जिस विवक्षित कर्म का आबाधाकाल पूर्ण होता है, तब से निषेकों का उदय प्रारंभ होता है, वहीं से (उस समय से) ही चारों प्रकार के बंध विद्यमान है इसलिये कर्म की सत्ता मानना क्या उचित है?

उत्तर : आपका कहना सही है।

आप गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ९१९ को पढ़ेंगे तो सब समझ में आयेगा; उसमें कहा है -

आबाहूणियकम्मट्टिदी णिसेगो दु सत्तकम्माणं ।

आउस्स णिसेगो पुण सगट्टिदी होदि णियमेण ॥

आयु बिना सात कर्मों की जितनी उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें से आबाधाकाल घटाने पर जो शेष रहे, उस काल के समयों का जो प्रमाण - वही निषेकों का प्रमाण जानना तथा आयुकर्म की जितनी स्थिति हो, उसके समयों का जो प्रमाण, वही निषेकों का प्रमाण जानना; क्योंकि आयु की आबाधा पूर्वभव की आयु में व्यतीत हो जाती है।

उदाहरण – मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म की स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर की है; उसका आबाधाकाल ७ हजार वर्ष होता है। अर्थात् मिथ्यात्व कर्म का नवीन बंध होने पर ७ हजार वर्षों में निषेक-रचना नहीं होती।

ब्र. जिनेन्द्र वर्णीजी ने आबाधाकाल का खुलासा निम्नप्रकार किया है -

“कर्म, बँधने के पश्चात् जितने समय तक आत्मा को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता अर्थात् उदय में नहीं आता, यानी बद्धकर्म अपना शुभाशुभ फल चखाने या फल का वेदन कराने को उद्यत नहीं होता, उतने काल को आबाधाकाल कहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि कर्म का बन्ध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं पैदा हो जाती। यह होती है - एक निश्चित काल सीमा के पश्चात् ही। कर्म की यह अवस्था आबाधा कहलाती है।

बन्ध और उदय के अन्तर (मध्य) का जो काल है, वह आबाधाकाल है।^१”

७. प्रश्न : समुद्घात किसे कहते हैं? वह कितने प्रकार का है? - यह बताकर क्या किसी भी समुद्घात के काल में जीव को कर्म का नया बंध भी होता है। - यह भी स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : मूल शरीर को न छोड़कर तैजस-कर्मणरूप उत्तर देह के साथ जीव-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

समुद्घात सात प्रकार का होता है - वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली समुद्घात।

हाँ, समुद्घात के काल में भी समुद्घात करनेवाले जीव को कर्म का नया बंध होता ही रहता है। इतनी विशेषता समझना चाहिए कि दसवें गुणस्थान पर्यन्त तो साम्प्रायिक आस्रव के कारण कर्म का बंध होता है; क्योंकि दसवें गुणस्थान पर्यन्त कषाय परिणाम रहता है।

उपशांतमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थान में मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है। केवली समुद्घात के काल में भी ईर्यापथास्रव होता है। बंध एक समय का होता है, जो गौण है।

हमें सामान्य नियम यह समझना आवश्यक है कि जब तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग परिणाम रहते हैं, तबतक तो जीव कुछ भी करता रहे तो भी जीव को कर्म का नया बंध होता ही रहता है।

८. प्रश्न : विशेष पुरुषार्थी दसवें गुणस्थानवर्ती, भावलिंगी मुनिराज को भी ध्यानावस्था (शुद्धोपयोग) होने पर भी कर्म का नया बंध क्यों होता है?

उत्तर : अरे भाई! ऊपर के प्रश्न के उत्तर में ही बताया है कि जब तक जीव को मिथ्यात्व से लेकर सूक्ष्म लोभ कषाय पर्यन्त के मोह परिणाम होते हैं, तब तक कर्म का नया बंध होता ही रहता है।

मुनिराज को ध्यानावस्था में शुद्धोपयोग होने पर भी सातवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यन्त अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम होने से कर्म का नया बंध होता ही है।

९. प्रश्न : ध्यानावस्था/शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धात्मा में लीनतारूप सूक्ष्मसाम्प्राय चारित्र होने पर भी कषाय परिणाम कैसे पाये जाते हैं?

उत्तर : कषायादि मोहरूप परिणाम दो प्रकार के होते हैं - (१) बुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम और (२) अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम। ध्यानावस्था में अथवा नींद में अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम होते रहते हैं; अतः कर्म का नया बंध भी कषाय से होता ही रहता है।

अपने या दूसरे के ज्ञान में स्पष्ट जानने में आनेवाले कषाय को बुद्धिपूर्वक कषाय कहते हैं और अपने या दूसरे के ज्ञान में जो कषाय परिणाम स्पष्ट जानने में नहीं आते, उन्हें अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम कहते हैं।

निद्रा के काल में, विग्रहगति में, बेहोशी अवस्था में भी अबुद्धिपूर्वक कषाय परिणाम होते हैं; इसलिए कर्म का नया बंध भी होता ही रहता है।

१०. प्रश्न : बंध करण, संसाररूप है; क्या उसको जानने से भी हमें कुछ लाभ हो सकता है?

उत्तर : बंध करण को जानने से भी जीव को लाभ तो होता ही है। जिनको जानने से कुछ भी लाभ न हो, उनको हमें जानना भी नहीं चाहिए।

वीतराग वाणी (सच्चे शास्त्र) में ऐसा कोई भी कथन नहीं होता, जिसको जानने से कुछ भी लाभ न हो।

(१) जैसे संसारी जीव को दुःख होता है, वही दुःख जीव के सुखस्वभाव की सिद्धि करता है; वैसे बंध करण को जानने से ही अबंध स्वभाव का अर्थात् अनादिकाल से मैं मोक्षस्वरूप ही हूँ, ऐसा दृढ़ निर्णय होता है।

(२) आज जो अनंत जीव सिद्धालय में सिद्ध परमेष्ठीरूप से हैं, वे जीव भी हम जैसे ही संसार में कर्मों से बँधे हुए थे, दुःखी थे; तथापि वे जैसे विशिष्ट पुरुषार्थ से कर्मों से रहित होकर मुक्त हो गये हैं/अनन्त सुखी हो गये हैं; वैसे ही मैं भी पुरुषार्थपूर्वक सिद्ध बन सकता हूँ; ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है।

(३) बंध करण, नाना जीवों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। अबध्य जीवों के लिए बंध करण, नियम से अनादि-अनन्त ही होता है; तथापि मेरे लिए बंध करण, अनादि होने पर भी अनन्त नहीं हो सकता, वह सान्त ही है; ऐसा निर्णय भव्यों को हो सकता है।

११. प्रश्न : आबाधाकाल को जानने से हमें क्या लाभ होता है?

उत्तर : पापमय परिणामों से पाप कर्म का बंध होता है और पुण्यमय परिणामों से पाप-पुण्यरूप दोनों ही कर्मों का बंध होता है; यह कर्मबंध का सामान्य नियम है।

मिथ्यात्वादि तीव्र कषाय परिणाम, पापमय हैं। अज्ञानी जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के वश होने से सहज ही सर्वज्ञ-प्रणीत आबाधाकाल के स्वरूप को न जानने वाला मिथ्यात्व एवं सप्तव्यसनादि अति घोर पापमय परिणाम करता रहता है। अन्याय, अनीति के साथ अभक्ष्य का खान-पान भी बिना संकोच करता रहता है; क्योंकि उसको वे पाप ही नहीं लगते; फिर उसके फल की तो बात ही कहाँ रही?

उसी समय सहज योग से उसको अपने ही पूर्वबद्ध पुण्य के उदय से मनुष्य जीवन में सब प्रकार की अनुकूलता मिलती रहती है। इससे उसे पुण्य पाप की शास्त्रीय धारणा, मिथ्या लगती है।

कर्मबन्धन, कर्मोदय तथा आबाधाकाल - इनका ज्ञान न होने से निजशुद्धात्मस्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानी को अपने मिथ्यात्व अथवा सप्तव्यसन के कारण से, अन्याय, अनीति से अनुकूलता मिल रही है; ऐसा भ्रम रहता है। इस कारण अन्याय-अनीतिमय कार्य में ही उसकी प्रीति एवं श्रद्धा बढ़ती रहती है और इन पापमय विपरीत कार्य तथा अन्यथा श्रद्धान के साथ दुर्लभ मनुष्य जीवन का विशेष लाभ प्राप्त न करते हुए व्यर्थ ही जीवन समाप्त होता है।

कोई भी छोटा-बड़ा पाप हो; उस पाप का, उसी समय पाप करनेवाले को पापरूप कर्म का बंध तो नियम से होता है; तथापि उसी समय हुए/किए उस पापकर्म के बंध का फल न मिलने का भी नियम है।

विशेष बात यह है कि - दीर्घ स्थितिवाले पाप कर्म का तो दीर्घ समय पर्यन्त फल न मिलने का नियम है। इसीतरह दीर्घ स्थितिवाले पुण्य कर्म हों तो भी दीर्घ समय पर्यन्त फल न मिलने का नियम है।

कर्म का बंध होने के बाद 'कुछ काल व्यतीत होने पर ही कर्म के फल मिलने का जो यह नियम है, उसे ही आबाधाकाल कहते हैं।'

यदि जीव को आबाधाकाल एवं कर्मोदय की जानकारी हो जाय तो पापमय परिणाम तथा पाप कार्य से अनुकूलता मिलती है, यह भ्रम टूट जायेगा और पापमय जीवन को छोड़ने की सहज प्रेरणा मिलेगी।

कर्म सिद्धान्त को न जाननेवाला कोई परोपकारादि पुण्यमय कार्य करता रहता है। पूजा, परोपकार, व्यवहारप्रभावनादि कार्यों में जुड़ा रहता है; तथापि उसे पूर्वबद्ध पापकर्म का उदय तीव्र आने से प्रतिकूलता भी प्राप्त हो सकती है।

वह सोचता है - यह क्या हो गया? यह क्या हो रहा है? मेरा जीवन तो पुण्यमय है तब फिर भी मुझे इतनी प्रतिकूलताएँ तथा परेशानियाँ क्यों हैं? पुण्यमय परिणाम तथा सदाचारी जीवन से कुछ लाभ नहीं।

दुनियाँ में पापी जीव ही पूजे जा रहे हैं। मुझे भी उनके समान ही पापरूप ही जीवन बिताना चाहिए।

सुदर्शन, सुकौशलादि अनेक मोक्षमार्गी श्रावक-साधुओं को भी परीषह और उपसर्ग उनके जानने-देखने में आते हैं। इस कारण उस अज्ञानी की सन्मार्ग के संबंध में श्रद्धा डगमगाने लगती है।

उस अज्ञानी को यदि यह पता चले कि अभी जो पुण्यमय कार्य से पुण्यकर्म का बंध हो रहा है, इसका फल तो कुछ काल बाद अर्थात् कर्म का आबाधाकाल पूरा होने पर ही मिलेगा।

मुझे जो प्रतिकूल संयोग प्राप्त हो रहे हैं, ये तो पूर्वबद्ध पापकर्म के फलस्वरूप हैं। मोक्षमार्ग में विशुद्धता के निमित्त से पापकर्म की उदीरणा होकर निर्जरा के लिए आ रहे हैं, जो कर्ज लिया था, वह समाप्त हो रहा है। इनसे मुझे प्रभावित नहीं होना चाहिए। मुझे धैर्य रखना चाहिए।

जिस कार्य का फल तत्काल आकुलता है और बाद में भी आकुलता ही है, उसे कर्म कहते हैं और जिस कार्य का फल तत्काल निराकुलता है बाद में भी निराकुलता है, उसे धर्म कहते हैं। ऐसी सच्ची समझ होने पर अज्ञानी जीव, ज्ञानी होकर धर्मात्मा होता है। इस तरह आबाधाकाल को जानने से लाभ ही लाभ है।

ज्ञानी जीव को भी अपनी कमजोरी से अर्थात् विद्यमान पुरुषार्थ की कमी से अथवा जीवन में विद्यमान कषाय के अनुसार विपरीत परिस्थिति में यथायोग्य दुःख होता है। प्रथमानुयोग के शास्त्रों में तद्भव मोक्षगामी सनत्कुमार चक्रवर्ती, बलभद्र रामचन्द्र आदि जीवों की दुःखद अवस्था जानने को मिलती है।

अनेक भावलिङ्गी मुनिराजों को भी पापोदय से उपसर्ग देखे जाते हैं, यह भी शास्त्राधार से जानते हैं। इन ज्ञानी, मोक्षमार्ग के साधकों को भी कर्म के आबाधाकाल का ज्ञान, अपनी भूमिका अनुसार होनेवाली आकुलता का अभाव करने के लिए अथवा आकुलता कम करने के लिए उपयोगी तो होता ही है। कर्मसंबंधी वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से तो जीव मात्र को लाभ ही लाभ होता है।

१२. प्रश्न : बंध करण के प्रश्नोत्तर में एक वाक्य आया है - 'बंध अवस्था को प्राप्त कर्म, (तत्काल) फल नहीं दे सकता;' इसका भाव क्या है? कर्म, बँधते ही फल क्यों नहीं देता? स्पष्ट करें।

उत्तर : जिस कर्म का बंध अभी हुआ है या हो रहा है; वह कर्म उसी समय फल नहीं दे सकता।

जिसप्रकार बीज बोते ही तत्काल वह वृक्षरूप से परिणामित नहीं होता और फल भी नहीं देता। बीज बोना और फल मिलना - इनमें जैसा काल-भेद आवश्यक है, उसीप्रकार - १. पहले कर्म का बंध होता है। २. कर्म-बंध के समय से ही कर्म को सत्त्व नाम प्राप्त होता है। ३. जब सत्ता में स्थित कर्म का आबाधा काल व्यतीत होकर कर्म का उदयकाल आयेगा तब ही अर्थात् कर्म उदय के समय में ही जीव को फल देता है।

अति संक्षेप में कर्म के फल देने की व्यवस्था का यह स्वरूप है।

यदि आप यह चाहते हो कि कर्म का बंध होते ही उसका फल मिलने लगे तो अनेक आपत्तियाँ आयेंगी -

- (१) कर्मोदय प्राप्त फल की जो व्यवस्थित व्यवस्था है, वह भंग होगी।
- (२) जिस समय कर्म का नया बंध हो रहा है, उसी समय वह नया कर्म-बंध फल देगा तो जिस कर्म का क्रम से स्वयमेव फल देने का उदयकाल आया है, उसका क्या होगा? वह फल दिए बिना कैसे रहेगा?
- (३) बंध में तथा उदय में आने वाले कर्मों में क्या टकराव होगा? क्योंकि दोनों का समय एक ही होने से कौन कितना और कैसा फल दे सकेगा? इसलिए व्यवस्थित व्यवस्था को स्वीकारने में ही समझदारी है।

जैसे कोई भी जीव मनुष्यरूप से जन्म लेता है तो कम से कम एक अंतर्मुहूर्त तो जीवित रहेगा ही। आप जन्म का और मरण का समय एक ही मानोगे तो नहीं चलेगा। जिस समय में जो जन्मेगा, वह उसी समय कैसे मरेगा? कर्म के बंध का अर्थ है - कर्म का जन्म होना और कर्म के उदय का अर्थ है - कर्म का मरना।

कर्म बँधते समय ही हठपूर्वक कर्म का उदय मानना यह विषय आगम एवं तर्क सम्मत भी नहीं है।

- (४) कर्म की आबाधा का अभाव मानना अनिवार्य हो जायेगा।
- (५) कर्म बंध के साथ कर्म की सत्ता (सत्त्व) बनती है, वह भी नहीं बनेगी। इसका अर्थ कर्म की सत्ता के अभाव की भी आपत्ति आयेगी।
- (६) कर्म का उदय तो सत्ता समाप्त होते ही आता है। यदि कर्म की सत्ता ही नहीं रही तो उदय कहाँ से आयेगा? कैसे आयेगा?
- (७) वर्तमान काल में कर्म का उदय ही नहीं आयेगा तो उदय के माध्यम से होनेवाली कर्म की उदीरणा कैसे होगी?
- (८) यदि कर्म की सत्ता नहीं मानोगे तो कर्म का उत्कर्षण (कर्म की स्थिति और अनुभाग बढ़ने का कार्य) कैसे होगा?

- (९) यदि सत्ता का स्वीकार न हो तो कर्म की अपकर्षणरूप (कर्म की स्थिति-अनुभाग घटनेरूप) अवस्था कैसी होगी?
- (१०) नवीन कर्मबंध के बाद भी कर्म की सत्ता नहीं मानोगे तो संक्रमण (कर्मों के उत्तर प्रकृतियों में बदलनेरूप कार्य कैसे होगा?)
- (११) नये कर्म के बँधने के समय में ही उस कर्म का उदय मानोगे तो सत्ता ही नहीं रहेगी तो कर्म का उदय-उदीरणा न होकर कर्म का, सत्ता में दबे रहनेरूप उपशांत करण भी कैसे होगा?

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कर्म, बंध अवस्था में फल नहीं दे सकता। बंध अवस्था में कर्म का मात्र बंध ही होता है। उसी समय से कर्म की सत्ता होती है। तदनंतर आबाधाकाल के बाद कर्म का उदय आयेगा।

कर्म की दस अवस्थाओं में से सामान्य मनुष्य को सामान्यस्वरूप से कम से कम तीन करणों को अर्थात् बंध, सत्ता एवं उदय अवस्थाओं को तो सूक्ष्मता से जानना ही चाहिए तथा दस करणों को भी मानना ही चाहिए; इसलिए बंध अवस्था में स्थित कर्म, बंध के समय/अवस्था में ही फल देनेरूप कार्य नहीं कर पायेगा।

१३. प्रश्न : यदि बंध करण को नहीं मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेंगी ?

उत्तर : संसार में विचरने वाले मनुष्य क्रोधादि कषायों अथवा हास्यादि नोकषायों से परिणत होते हुए देखने में आ रहे हैं। प्रत्येक समझदार मनुष्य भी इन विकारों का हीनाधिकरूप से अनुभव कर ही रहा है।

इतना ही नहीं; गाय, बैल, भैंसा इत्यादि पंचेन्द्रिय बलवान तिर्यञ्च भी कषाय-नोकषायरूप विकारों से परिणत होते हुए देखने में आ रहे हैं।

यदि दुनियाँ में छोटे-बड़े अनेक जीव, विकाररूप से परिणत होते हुए देखने में आ रहे हैं तो इसका कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिए।

कारण दो तरह के होते हैं - (१) बहिरंग कारण (२) अंतरंग कारण। क्रोधादि के बहिरंग कारण बाह्य अप्रिय वस्तुएँ हैं। जैसे - शत्रु इत्यादि।

क्रोधादि कषायों के बाह्य कारण समान होने पर भी सभी को समान रूप से क्रोधादि कषाय परिणाम नहीं होते; अतः इसका कोई अंतरंग कारण भी होना ही चाहिए और वह है पूर्वकाल में बंधे हुए कर्मबंध का उदय।

इस अनुमान ज्ञान से भी बंध करण का अनुमान हो सकता है; अतः बंध करण को नहीं मानने का अर्थ अनुमानरूप प्रमाण ज्ञान को नहीं मानने का प्रसंग आयेगा अर्थात् हमें ज्ञान के निषेध करने का दोष लगेगा।

दूसरी बात यह भी है कि अनंत सर्वज्ञ भगवंतों ने बंध करण के बारे में कहा ही है, उसका निषेध करने का अर्थ सच्चे देव के कथन का निषेध करना है।

तीसरी बात आज सर्वज्ञ-कथित तत्त्व, शास्त्रों में विद्यमान है और शास्त्रों में बंध करण का वर्णन सत्यमहाव्रती मुनिराजों ने किया है।

यदि हम बंध करण को नहीं मानेंगे तो सच्चे शास्त्र एवं गुरु की भी यथार्थ मान्यता नहीं रहेगी।

दस करणों में बंध करण प्रथम क्रमांक पर है, यदि इसे अर्थात् बंध करण को न माना जाय तो आगे के नौ करणों के मानने में बहुत बड़ी बाधा आयेगी; इसलिए नौ करणों के मूलभूत विषयरूप बंध करण को तो विज्ञान मानेंगे ही मानेंगे।

अतः इस बंध करण को सभी को मानना ही चाहिए।

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब बंध करण के विषय को समझने के लिए यहाँ पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका शास्त्र के चूलिका अधिकार के विशेष उपयोगी अंश को दिया जा रहा है।

अर्वाचीन हिन्दी साहित्य में मात्र पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल का यह चूलिका अधिकार ही दस करण समझने में अतिशय अनुकूल एवं विषय को विशदरूप से समझने में उपयोगी है। पाठक स्वयमेव इस विभाग की स्वतंत्र उपयोगिता समझ लेंगे, ऐसी आशा है। आगे का अंश भावदीपिका का है -

“प्रथम, कर्म की बंध करण (अवस्था) कहते हैं -

नवीन कर्म परमाणुओं का जीव के प्रदेशों से परस्परावगाह संबंध होना, उसे बंध कहते हैं। वह बंध चार प्रकार का है - प्रदेशबंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध।

जो सिद्धराशि के अनन्तर्वे भाग और अभव्यराशि से अनन्तगुणे प्रमाण मात्र ऐसे कर्मरूप होने-योग्य पुद्गल परमाणुओं का समय-समय ग्रहण होता है, उसे समयप्रबद्ध कहते हैं। उसका ग्रहण होकर आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप संबंध होना, उसे प्रदेशबंध कहते हैं।

जो पुद्गल कर्म परमाणु, ज्ञानावरणादि मूल-उत्तर प्रकृतिरूप परिणमते हैं; उसे प्रकृतिबंध कहते हैं।

जो अपनी-अपनी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थिति लिये हुए ठहरते हैं/रहते हैं; उसे स्थितिबंध कहते हैं।

जो अपने-अपने कार्यरूप रस देने की शक्ति का जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अविभाग अंश का उत्पन्न होना, उसे अनुभागबंध कहते हैं।

इसप्रकार चार प्रकार से बंध का स्वरूप जानना।

उनमें प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध, योगों से होते हैं।

नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए (द्रव्य) मन, वचन, काय की चेष्टा का निमित्त पाकर आत्मा के प्रदेशों का चंचल/कम्पन होना, उससे आत्मा में कर्म-ग्रहण करने की शक्ति होती है, उसका नाम योग है।

उससे पौद्गलिक कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है, उसे प्रदेशबंध कहते हैं।

मन, वचन, काय की चेष्टा अर्थात् शुभाशुभ प्रवृत्ति दो प्रकार की है, वह आत्मा के शुभाशुभ भावों से होती है।

जब आत्मा त्रेपन भावों में से शुभ लेश्यादि बाईस^१ शुभभावों रूप परिणमता है, तब मन-वचन-काय द्वारा जो शुभकार्यरूप प्रवृत्ति होती है; उसका नाम शुभयोग है।

जब आत्मा उन्हीं में से अशुभ लेश्यादि उन्नीस^२ अशुभ भावोंरूप परिणमता है, तब वहाँ मन-वचन-काय की अशुभ कार्यरूप प्रवृत्ति होती है; उसका नाम अशुभयोग है।

जब शुभयोग होने से शुभकर्म परमाणुओं का बंध होता है; तब शुभरूप सातावेदनीय आदि कर्म प्रकृतियों का ही बंध होता है।

और अशुभयोग होने से अशुभ कर्मपरमाणुओं का बंध होता है तब अशुभरूप असातावेदनीय आदि कर्म प्रकृतियों का बंध होता है।

स्थितिबंध, अनुभागबंध कषाय से होता है। आत्मा के शुभाशुभ

१. मनुष्यगति, देवगति, पीत, पद्म, शुक्ल=५ + मति श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान = ४ + दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य = ५ + क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, देशसंयम, क्षायोपशमिक चारित्र, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन = ६ + औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र = २ कुल २२ शुभभाव।

२. नरकगति, तिर्यच गति = २ + क्रोध, मान, माया, लोभ = ४ + स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद = ३ + मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व = ४ + कृष्ण, नील, कापोत लेश्या = ३ + कुमति, कुश्रुत, विभंगावधि = ३ कुल १९ अशुभभाव।

भावों के अनुसार ही कषायों की तीव्र-मंद प्रवृत्ति होती है।

जब आत्मा शुभलेश्यादि शुभभावोंरूप परिणमता है, तब कषाय मंद होकर प्रवर्तती है; जिससे सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग बंध बहुत होता है तथा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म की और असातावेदनीय आदि अघातिया कर्म की पापप्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग बंध अल्प होता है।

जब आत्मा अशुभलेश्यादि अशुभभावोंरूप परिणमता है और वहाँ तीव्र कषाय रूप प्रवर्तता है; तब ज्ञानावरणादि चार घातिया की और असातावेदनीय आदि अघातिया की पाप प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग बंध बहुत होता है और सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग बंध अल्प होता है।

जैसा-जैसा उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अनुभाग को लिये हुए शुभाशुभ भावोंरूप आत्मा परिणमता है, उसी के अनुसार उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य स्थिति-अनुभाग को लिये हुए शुभाशुभ कर्मबंध होता है।

जब आत्मा निःकषाय भावरूप होता है, तब स्थितिबंध-अनुभागबंध का अभाव हो जाता है।

जब आत्मा योग-रहित होकर प्रवर्तता है, तब प्रदेशबंध-प्रकृतिबंध का भी अभाव हो जाता है।

आत्मा के जिस-जिस भाव का निमित्त पाकर, जिस-जिस कर्म का बंध होता है, वहाँ उस-उस भाव का अभाव होने से उस-उस कर्म के बंध का भी अभाव हो जाता है।

इसलिए कर्मबंध के कारण आत्मा के भाव ही जानना।”

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :- बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- आत्मा के साथ नवीन कर्म पुद्गलों के बँधने को बन्ध कहते हैं।

२. प्रश्न :- बन्ध के कितने भेद हैं?

उत्तर :- बन्ध के चार भेद होते हैं - प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध।

३. प्रश्न :- प्रकृतिबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- कर्मरूप होने-योग्य पुद्गलों का ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतिरूप और उनके (भेद) उत्तर प्रकृतिरूप परिणमन होने का नाम प्रकृतिबन्ध है।

४. प्रश्न :- प्रदेशबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- प्रति समय एक जीव के साथ जितने पुद्गल परमाणु, कर्मरूप परिणमन करते हैं; उनके प्रमाण को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

५. प्रश्न :- एक समय में एक जीव के कितने कर्मपरमाणु बँधते हैं?

उत्तर :- प्रति समय एक जीव के एक समयप्रबद्ध प्रमाण कर्म परमाणुओं का बन्ध होता है।

६. प्रश्न :- समयप्रबद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- एक समय में जितने कर्म-परमाणु जीव के प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से बँधते हैं; उसे समयप्रबद्ध कहते हैं।

७. प्रश्न :- समयप्रबद्ध के विभाग का क्या अनुपात है?

उत्तर :- एक समय में ग्रहण किये गये पुद्गल परमाणु, यथायोग्य मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिरूप परिणमन करते हैं; वही कहते हैं -

(१)समयप्रबद्ध का सबसे कम भाग आयु कर्मरूप परिणमन करता है।

(२) आयु से अधिक भाग, दो भागों में समान रूप से विभाजित होकर नामकर्म और गोत्रकर्मरूप परिणमन करते हैं।

(३) नाम, गोत्र कर्मों के भाग से अधिक भाग, तीन भागों में बराबर-बराबर विभाजित होकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मरूप परिणमन करते हैं।

(४) इन तीनों कर्मों को मिलने वाले भाग से भी अधिक भाग, मोहनीय कर्मरूप परिणमन करता है।

(५) मोहनीय से भी अधिक भाग, वेदनीय कर्म को मिलता है।

आउगभागो थोवो, णामागोदे समो तदो अहियो।

घादि तिये वि य तत्तो, मोहे तत्तो तदो तदिये ॥^१

अर्थ - सर्व मूलप्रकृतियों में आयुकर्म का भाग अर्थात् हिस्सा सबसे थोड़ा है। नामकर्म और गोत्रकर्म-दोनों का भाग, परस्पर समान है; तथापि आयुकर्म के भाग से अधिक है। अंतराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण - इन तीनों का भाग, परस्पर समान है; तथापि नाम, गोत्र के भाग से अधिक है। इससे मोहनीय का भाग अधिक है। इससे तीसरा कर्म-वेदनीय, उसका भाग अधिक है।

यदि एक समय में किसी जीव को आठों कर्मों का प्रदेशबंध होता है तो उस समय समयप्रबद्ध कर्म परमाणुओं का कैसा विभाजन होता है, उसका यहाँ चार्ट के द्वारा ज्ञान कराया है।

इस चार्ट का खुलासा इसप्रकार है -

कर्म	वेदनीय	मोहनीय	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	अन्तराय	नाम	गोत्र	आयु
बहुभागसे	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०	२८८०
एक भागसे	+५७६०	+१४४०	+१२०	+१२०	+१२०	+४५	+ ४५	+ ३०
कुल प्रमाण	८६४०	४३२०	३०००	३०००	३०००	२९२५	२९२५	२९१०

स्थूलरूप से दृष्टान्त के द्वारा एक समय में आठों कर्मों के विभाजन (अधिक से हीन की ओर) का आगे ज्ञान कराने का प्रयास किया है -

समयप्रबद्ध का प्रमाण ३०७२० कर्मपरमाणु, माना गया है। आवली का प्रमाण (४) माना है। ३०७२० समयप्रबद्ध द्रव्य को आवली प्रमाण ४ से भाग दिया तो ७६८० एक भाग मूल द्रव्य, आ गया। ३०७२० प्रमाण समय प्रबद्ध में से ७६८० मूल द्रव्य को कम किया तो २३०४० यह बहुभाग द्रव्य आता है।

इसप्रकार समयप्रबद्ध कर्म परमाणु एक भाग और बहुभाग के रूप में दो भागों में बट गया। एक भाग = ७६८० तथा बहुभाग = २३०४० ज्ञातव्य है कि बहुभाग तो सभी कर्मों में बराबर-बराबर बँट जाता है और एक भाग का विभाजन चार्ट अनुसार विशेष रूप से होता है।

इस २३०४० प्रमाण द्रव्य को आठों कर्मों में विभाजित करते हैं। २३०४० को ८ का भाग देने से = २८८० परमाणु ज्ञानावरणादि प्रत्येक कर्मों को प्राप्त होते हैं।

७६८० यह एक भाग द्रव्य आया था। उसे ४ से विभाजित किया। ७६८० भाग ४ = १९२० एक भाग आया। मूलद्रव्य ७६८० में से एक भाग १९२० कम किया तो ५७६० बहुभाग आया, उसे वेदनीय को दिया। १९२० को चार में विभाजित किया। १९२० भाग ४ = ४८०। ४८० को कम किया। १९२०-४८० = १४४० जो बहुभाग आया, उसे मोहनीय को दिया। १९२० के ४ समान भाग किये। १९२० भाग ४ = ४८०। ४८० के चार समान भाग किये। ४८० भाग ४ = १२० एक भाग। ४८०-१२० कम किये = ३६० बहुभाग आया।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय - प्रत्येक को ३६० भाग ३ = १२० प्रत्येक को दिया। शेष १२० भाग ४ = ३० समान भाग किये। उस ३० को १२० में से कम किए तो ९० आया। ९० को २ से विभाजित किया। ४५, ४५ आया। इन ४५, ४५ को नाम और गोत्र को दिया। शेष एक भाग ३० को आयु कर्म को दिये।

वेदनीयकर्म, सुख-दुख का कारण है; इसलिए सुख-दुख होते हुये इसकी निर्जरा बहुत होती है। इसकारण अन्य मूलप्रकृतियों के भागरूप द्रव्य प्रमाण से वेदनीय का द्रव्य अधिक है, ऐसा परमाणु में कहा है।^१

वेदनीय को छोड़कर शेष सब मूलप्रकृतियों के स्थिति प्रतिभाग से द्रव्य का बँटवारा होता है।

- (१) जिस कर्म की स्थिति, बहुत है; उसका द्रव्य अधिक है।
- (२) जिसकी स्थिति, परस्पर समान है, उसका द्रव्य परस्पर समान जानना।
- (३) जिसकी स्थिति, हीन है; उसका द्रव्य थोड़ा जानना।
- (४) आयु, गोत्र और वेदनीय को छोड़कर शेष पाँच कर्मों को जो भाग मिलता है, वह उनकी उत्तर प्रकृतियों (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय २८, नाम ९३, अन्तराय ५) में यथायोग्य विभाजित हो जाता है।

८. प्रश्न :- क्या प्रतिसमय आयुकर्म का बंध होता है?

उत्तर : नहीं, आयु कर्म का बंध प्रतिसमय नहीं होता। आयु कर्म के बंध संबंधित चर्चा विस्तारपूर्वक आगे दी गई है; वहाँ से जानना।

९. प्रश्न :- स्थितिबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- कर्मरूप परिणत हुए कार्मण स्कन्धों में आत्मा के साथ रहने की काल-मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं।

१०. प्रश्न :- कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?

- (१) उत्तर :- पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, पाँच अन्तराय और दो वेदनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (२) दर्शन मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (३) चारित्रमोहनीय का उत्कृष्ट स्थितिबंध चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

- (४) नाम और गोत्रकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (५) आयुर्कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तेतीस सागरोपम प्रमाण है।
११. प्रश्न :- मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?
- उत्तर :- (१) मिथ्यात्वकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (२) सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (३) पुरुषवेद, हास्य और रति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (४) नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (५) स्त्रीवेद का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
१२. प्रश्न :- नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?
- उत्तर :- (१) मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी का पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।
- (२) देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभ नाराच संहनन, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति का दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (३) नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-वैक्रियिक-तैजस-कार्मण शरीर, औदारिक और वैक्रियिक अंगोपांग, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु,

- उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण कर्म का बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (४) दो, तीन, चार इन्द्रिय जाति, वामन संस्थान, कीलक संहनन, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नामकर्म का अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (५) आहारक शरीर, आहारकशरीर अंगोपांग और तीर्थङ्कर प्रकृति-नाम कर्म का अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (६) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान और वज्रनाराच संहनन का बारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (७) स्वाति संस्थान और नाराच संहनन का चौदह कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है।
- (८) कुब्जक संस्थान और अर्धनाराच संहनन का सोलह कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।
१३. प्रश्न :- वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?
- उत्तर :- असाता वेदनीय का तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण और साता वेदनीय का पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।
१४. प्रश्न :- आयु कर्म के भेदों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?
- उत्तर :- नरकायु और देवायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध तेतीस सागरोपम प्रमाण और मनुष्य-तिर्यचायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीन पल्योपम प्रमाण होता है।
१५. प्रश्न :- गोत्रकर्म के भेदों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कितना है?
- उत्तर :- उच्च गोत्र का दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण और नीच

गोत्र का बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

१६. प्रश्न :- यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध किसे होता है?

उत्तर :- उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के ही होता है।

१७. प्रश्न :- कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध कितना है?

उत्तर :- पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और पाँच अन्तराय का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण है।

वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण है।

१८. प्रश्न :- यह जघन्य स्थितिबन्ध किनके पाया जाता है?

उत्तर :- (१) मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण (बादर साम्पराय) नामक नौवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के पाया जाता है।

(२) आयु कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कर्मभूमिया मनुष्य-तिर्यचों के पाया जाता है।

(३) शेष कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के पाया जाता है।

१९. प्रश्न :- एक समय में बँधे हुए सभी पुद्गल परमाणुओं की स्थिति क्या समान होती है?

उत्तर :- नहीं, असमान ही होती है। प्रत्येक समय में उदय में आनेवाले प्रत्येक निषेक की स्थिति, भिन्न-भिन्न ही होती है। उसका विवरण - एक समय में जो स्थितिबन्ध होता है, उसमें बन्ध समय से लेकर आबाधा काल पर्यन्त तो बँधे हुए परमाणुओं का उदय ही नहीं होता।

आबाधा काल बीतने पर प्रथम समय से लेकर बँधी हुई स्थिति के अन्तिम समय तक प्रत्येक समय में एक-एक निषेक का उदय आता है।

अतः प्रथम निषेक की स्थिति एक समय अधिक आबाधाकाल मात्र होती है। दूसरे निषेक की स्थिति दो समय अधिक आबाधाकाल मात्र होती है। इसतरह क्रम से एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते अन्तिम निषेक से पहले (उपांत्य) निषेक की स्थिति, एक समय कम स्थितिबन्ध प्रमाण है और अन्तिम निषेक की स्थिति, सम्पूर्ण स्थितिबन्ध प्रमाण है।

जैसे मोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति बँधी। उसमें से सात हजार वर्ष का आबाधाकाल है; अतः प्रथम निषेक की स्थिति एक समय अधिक सात हजार वर्ष है। दूसरे, तीसरे आदि निषेकों की स्थिति, क्रम से एक-एक समय बढ़ती हुई जानना तथा अन्तिम निषेक की स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर होती है।

२०. प्रश्न :- आबाधाकाल किसे कहते हैं?

उत्तर :- कर्म का बन्ध होने के पश्चात् जब तक वह कर्म, उदय अथवा उदीरणा अवस्था को प्राप्त नहीं होता उतने काल को आबाधाकाल कहते हैं।

२१. प्रश्न :- आबाधाकाल का क्या नियम है?

उत्तर :- (१) आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का आबाधाकाल एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति में सौ वर्ष प्रमाण होता है।

(२) अतः जिस कर्म की स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है, उसका आबाधाकाल, सात हजार वर्ष है।

(३) जिस कर्म की स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर है, उसका आबाधाकाल, चार हजार वर्ष है।

(४) जिसकी स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है, उसका आबाधाकाल, तीन हजार वर्ष है।

इसी अनुपात से सब कर्मों की स्थिति में आबाधाकाल जानना। विशेष इतना कि जिस कर्म की स्थिति, अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है, उसका आबाधाकाल, अन्तर्मुहूर्त होता है।

२२. प्रश्न :- आयु कर्म के आबाधाकाल का क्या नियम है?

उत्तर :- आयु कर्म का आबाधाकाल, अन्य कर्मों की तरह स्थितिबन्ध के अनुसार नहीं होता है; इसलिए आयु के स्थितिबन्ध में आबाधाकाल नहीं गिना जाता; क्योंकि आयु का आबाधाकाल, पूर्व पर्याय में ही व्यतीत हो जाता है।

अतः आयु कर्म के प्रथम निषेक की स्थिति एक समय, दूसरे निषेक की स्थिति दो समय, इस तरह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अन्तिम निषेक की स्थिति, सम्पूर्ण स्थितिबन्ध प्रमाण होती है।

२३. प्रश्न :- अपकर्षकाल किसे कहते हैं?

उत्तर :- आगामी परभव की आयु जिस काल में बँधे, उस काल को अपकर्षकाल कहते हैं।

जैसे - किसी कर्मभूमिया मनुष्य की आयु इक्यासी वर्ष है। उस आयु के दो भाग अर्थात् चौवन वर्ष बीतने पर जब सत्ताईस वर्ष की आयु शेष रहती है तब तीसरे भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त प्रथम अपकर्षकाल होता है। उसमें परभव की आयु का बन्ध हो सकता है।

यदि उस प्रथम अपकर्षकाल में आयु का बंध न हो तो उर्वरित/शेष सत्ताईस वर्ष की आयु के भी दो भाग अर्थात् अठारह वर्ष बीतने के बाद जब नौ वर्ष की आयु शेष रहती है, तब नौ वर्ष का प्रथम अन्तर्मुहूर्त, दूसरा अपकर्षकाल होता है।

उसमें भी आयु न बँधे तो शेष आयु नौ वर्ष के दो भाग अर्थात् छह वर्ष बीतने के बाद तीन वर्ष की आयु शेष रहने पर तीसरा अपकर्ष काल होता है। उसमें भी न बँधे तो एक वर्ष आयु शेष रहने पर चौथा अपकर्षकाल होता है।

भुज्यमान आयु के त्रिभाग-त्रिभाग में आठ अपकर्ष काल होते हैं। आयुबंध के योग्य परिणाम (लेश्या के मध्यम अंश) इन अपकर्ष कालों में ही पाये जाते हैं।

ऐसा कोई नियम नहीं है कि इन अपकर्षकालों में आयु का बंध हो। बन्ध हो तो हो, न हो तो न भी हो। बंध नहीं होने की स्थिति में मरण के पहले एक अन्तर्मुहूर्तकाल में आयु का बंध नियम से होता है।

आयुबंध, एक बार ही होता है; ऐसा नहीं है। कम से कम एक बार और अधिक से अधिक आठ बार आयु का बंध होता है। वह किसी भी अपकर्ष काल में होता है। पहले अपकर्षकाल में बँधी हुई आयु का ही अन्य अपकर्ष काल में बंध हो तो होता है।^१

२४. प्रश्न :- अनुभागबन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर :- जैसे पात्र (बर्तन) आदि के निमित्त से पुष्प आदि मदिरा रूप हो जाते हैं, उनमें ऐसी शक्ति होती है कि उनको पीने से पुरुष को (थोड़ा या बहुत) नशा चढ़ता है।

वैसे ही रागादि के निमित्त से जो पुद्गल कर्मरूप होते हैं, उनमें ऐसी शक्ति पायी जाती है कि जिससे उदयकाल आने पर वे, जीव के ज्ञानादि गुणों का थोड़ा या बहुत घात करने में निमित्त होते हैं।

बन्ध होते समय कर्म में उक्त प्रकार की फलदान शक्ति का होना ही अनुभाग-बन्ध है।

२५. प्रश्न :- बंध-योग्य कुल प्रकृतियाँ कितनी हैं?

उत्तर :- पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय, छब्बीस मोहनीय, चार आयु, सड़सठ नाम, दो गोत्र और पाँच अन्तराय - ये सब एक सौ बीस प्रकृतियाँ, बन्ध-योग्य हैं। विशेष इतना कि मोहनीय कर्म की सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, केवल उदय और सत्त्व होता है।

तथा नामकर्म की १३ प्रकृतियों में से पाँच बन्धन और पाँच संघात, शरीर नामकर्म के साथ अविनाभावी हैं; इसलिये बन्ध और उदय अवस्था में इन दसों का अन्तर्भाव, शरीर नामकर्म में ही कर लिया जाता है।

इसी तरह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के २० उत्तर भेदों को उन्हीं चार वर्णादि में गर्भित करके बन्ध और उदय अवस्था में केवल चार का ही ग्रहण किया जाता है।

इसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति = २ + ५ बंधन + ५ संघात + स्पर्शादि की पर्यायें १६ कुल २८ को कर्मों की १४८ प्रकृतियों में से घटाने पर बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० हैं।

बंध, सत्त्व एवं उदय प्रकृतियों के विषय में पण्डित द्यानतरायजी का निम्न छंद प्रसिद्ध है -

बंध एक सौ बीस, उदय सौ बाइस आवैं।
सत्ता सौ अड़ताल, पाप की सौ कहलावैं॥
पुन्यप्रकृति अड़सट्ट, अठत्तर जीवविपाकी।
बासठ देह-विपाकि, खेत भव चउ चउ बाकी॥
इकईस सरबघाती प्रकृति, देशघाति छब्बीस हैं।
बाकी अघाती इक अधिक शत, भिन्न सिद्ध सिव ईस हैं॥२८॥

अर्थ - बन्ध की अपेक्षा १२० प्रकृतियाँ, उदय की अपेक्षा १२२, सत्ता की अपेक्षा १४८, पाप प्रकृतियाँ १००, पुण्य प्रकृतियाँ ६८, जीव विपाकी ७८, देह (पुद्गल) विपाकी ६२, क्षेत्र व भव विपाकी चार-चार, सर्वघाति २१, देशघाती २६ प्रकृतियाँ और शेष अर्थात् १०१ हैं। इनसे भिन्न सिद्ध परमात्मा है।

२६. प्रश्न : बंध करण का पारिभाषिक स्वरूप क्या है?

उत्तर : (१) जीव, कषाय-सहित होने पर कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है; वह कर्म-योग्य पुद्गलों का ग्रहण, बंध है।

(२) जीव और कर्म की एकरूपता अर्थात् एकीभाव, बंध कहलाता है।^१

(३) मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगों से जीव और कर्म का जो एकत्वरूप परिणाम होता है, वह बंध है।^२

उदाहरण - पिघलाए हुए सोने और चाँदी की एकरूपता।

यह बंध एक लकड़ी का अन्य लकड़ी से परस्पर संयोग-जैसा नहीं है और वह आत्मा और उसका ज्ञान - ऐसा तादात्म्य संबंध- जैसा भी नहीं। मात्र एकक्षेत्रावगाह रूप संयोग संबंध है।

२७. प्रश्न : कर्म के नवीन बंध का वास्तविक कारण क्या है?

उत्तर : “पुरुषों के लिए कर्मबंध करनेवाला न तो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलन-स्वरूप कर्म अर्थात् मन-वचन-काय की क्रिया है, न अनेकप्रकार के करण हैं और न चेतन-अचेतन का घात है; किन्तु आत्मा में रागादि के साथ होनेवाली एकत्वबुद्धि ही बंध का एकमात्र वास्तविक कारण है।”^३

२८. प्रश्न : बंध के संबंध में सामान्यरूप से विशेषताएँ बताइए।

उत्तर : (१) नवीन बँधनेवाला कर्म, बँधते समय मिट्टी के ढेले के समान है; वह न संयोग में न विकार में निमित्त है।^३

(२) कर्म का जैसा, जितना बंध हो गया है, वह वैसा व उतना ही फल देगा - ऐसा निश्चित नहीं है; क्योंकि बँधा हुआ कर्म, जीव के नये-नये परिणामों का निमित्त मिलने पर उदय में आने के पहले ही अन्य रूप में रूपान्तरित हो सकता है। इसलिए पूर्वकृत पापकर्म से चिंतित व दुःखी होना व्यर्थ है। यह सिद्धान्त जीवों को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है।

(३) पूर्वबद्ध तीव्र पाप-फल देनेवाला कर्म, बदलकर हीन फल देनेवाला हो सकता है अथवा पाप, पुण्य में भी परिवर्तित हो सकता है।

२९. प्रश्न : विभिन्न अपेक्षाओं से बंध के कितने भेद हैं?

उत्तर : (१) जीव और कर्मों का अन्योन्य संश्लेषरूप बंध, बंध सामान्य की अपेक्षा एक ही प्रकार का है।^३

(२) शुभ एवं अशुभ कर्मबंध की अपेक्षा बंध दो प्रकार का है।

(३) द्रव्यबंध, भावबंध और उभयबंध की अपेक्षा तीन प्रकार का है।^४

१. समयसार कलश १६४ एवं समयसार नाटक - बंध द्वार पृ. १७४

२. समयसार गाथा-१६९

३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/७/१४

४. प्रवचनसार गाथा-१७७ की टीका

- (४) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव - इन चार निक्षेपों की अपेक्षा बंध चार प्रकार का है।
- (५) प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग बंध की अपेक्षा से भी बंध चार प्रकार का है।
- (६) मिथ्यादर्शनादि कारण-भेद की अपेक्षा से बंध पाँच प्रकार का है।
- (७) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से बंध छह प्रकार का है।
- (८) ज्ञानावरणादि मूल कर्म प्रकृति की अपेक्षा से बंध आठ प्रकार का है।
- (९) बंधयोग्य प्रकृतियाँ १२० प्रकार की हैं। अथवा भेद की अपेक्षा से बंध, १४६ प्रकार का है।^१
- (१०) सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति का बंध नहीं होता।

३०. प्रश्न : बंध के संबंध में विशेष क्या है?

उत्तर : (१) सातावेदनीय के बंध के काल में असाता वेदनीय का बंध नहीं होता।

(२) रति के बंध के समय में अरतिरूप नोकषाय का बंध नहीं होता।

(३) हास्य नोकषाय के बंध के समय में शोक का बंध नहीं होता। इसप्रकार की अनेक प्रकृतियाँ हैं। जैसे त्रस का बंध हो रहा हो तो स्थावर तथा एकेन्द्रिय का बंध नहीं होता। पुरुषवेद के बंध के समय में स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का बंध नहीं होता।

(४) जब तक बन्ध-व्युच्छिन्ति नहीं होती, तब तक निरन्तर बँधने वाली प्रकृति, ध्रुवबन्धी कहलाती है।^२

(५) बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से अज्ञानी अथवा अभव्यों को कर्म की ४७ प्रकृतियाँ निरन्तर बँधती ही रहती हैं; उन्हें ध्रुवबन्धी कहते हैं।

(६) ध्रुवबन्धी ४७ प्रकृतियाँ निम्नानुसार है - ज्ञानावरण-५, दर्शनावरण की ९, मिथ्यात्व-१, चारित्र मोहनीय की अनंतानुबंधी आदि १६ कषाय; नोकषाय में से भय, जुगुप्सा-२; नामकर्म में से -

तैजस, कार्मण, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और ५ अंतराय।^३

(७) प्रकृतिबंध आदि चारों प्रकार का बंध, एक साथ होता है।

(८) चारों प्रकार के बंध में अनुभाग बंध प्रधान है; क्योंकि वह जीव को फल देने में प्रधान कारण है।

३१. प्रश्न : गुणस्थान के अनुसार इस निरन्तर बंध करण को स्पष्ट करें।

उत्तर : (१) मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थान को छोड़कर पहले गुणस्थान से सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यंत के सभी जीव, सात मूल प्रकृतियों को या आयुर्कर्म-सहित आठ कर्मों को निरन्तर बाँधते हैं।

(२) अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण गुणस्थानधारक मुनिराज, आयु कर्म के बिना सात कर्मों को निरन्तर बाँधते हैं।

(३) सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती जीव, मोह एवं आयु को छोड़कर छह कर्मों को निरन्तर बाँधते हैं।

(४) उपशांत मोही, क्षीणमोही एवं सयोग केवली जिन, केवल एक सातावेदनीय को निरन्तर बाँधते हैं।

(५) अयोगी जिन किसी भी कर्म को नहीं बाँधते।

३२. प्रश्न : बंध के संबंध में अन्य क्या विशेषताएँ हैं?

उत्तर : (१) तीर्थकर प्रकृति का बंध, चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक होता है; अन्य गुणस्थान में नहीं।^४

(२) तीर्थकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ केवली के पादमूल में कर्मभूमिज मनुष्य के चौथे से सातवें गुणस्थान के मध्य ही प्रारंभ होता है।

(३) तीर्थकर प्रकृति को तिर्यच जीव, कभी भी नहीं बाँधता।

(४) जिनके तीर्थकर प्रकृति का उदय है, उनको तीर्थकर प्रकृति का बंध नहीं होता।

(५) आठवें से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में आयुर्कर्म का बंध नहीं होता।

- (६) सकल (सर्व) उपशमसम्यक्त्वी जीव आयुर्कर्म का बंध नहीं करते।^१
- (७) अविरत सम्यक्त्वी मनुष्य व तिर्यच गति के जीव देवायु को छोड़कर अन्य आयु को नहीं बाँधते।
- (८) अविरत सम्यक्त्वी देव-नारकी जीव मनुष्यायु को ही बाँधते हैं।
- (९) मनुष्य आयु के बंध के समय, गतिबंध भी मनुष्यगति का ही होता है। इसीतरह अन्य तीन आयु के संबंध में भी जानना।
- (१०) देवायु का बंध और उदय एकसाथ नहीं होता।^२
- (११) मिथ्यात्व, सासादन एवं अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानवर्ती जीव ही मनुष्यायु को बाँध सकते हैं। यह सामान्य कथन है।^३
- (१२) देवायु का बंध अप्रमत्त गुणस्थान पर्यंत ही होता है।
- (१३) नरकायु का बंध मिथ्यादृष्टि ही करता है।
- (१४) तिर्यच आयु का बंध मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यक्त्वी भी करता है।
- (१५) सामान्य रूप से मनुष्य-तिर्यच जीव, चारों आयु का बंध कर सकते हैं।
- (१६) देव-नारकी जीव, मनुष्य व तिर्यच आयु को बाँधते हैं।
- (१७) आहारक चतुष्क का बंध, मात्र सातवें-आठवें गुणस्थान में होता है।
- (१८) तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और प्रवचन - इनके प्रति अनुराग तथा प्रमाद का अभावरूप भाव, आहारक चतुष्क के बंध के कारण हैं; इसीलिए सभी संयमी इसका बंध नहीं कर सकते।^४
- (१९) मनुष्यगति और देवगति के बंध के समय ही उच्च गोत्र बंधता है।
- (२०) नरकगति और तिर्यचगति के बंध के समय ही नीच गोत्र बंधता है।
- (२१) भोगभूमिज जीव उच्च गोत्र को ही बाँधते हैं।^५

१. धवला ८, पृष्ठ-३७७

२. वही, पुस्तक ८, पृष्ठ-१२६

३. वही, पुस्तक ८, पृष्ठ-१८६

४. वही, पुस्तक ८, पृष्ठ-७२

५. वही, पुस्तक ८, पृष्ठ-१९

- (२२) यशःकीर्ति, नरकगति के बिना अन्य तीन गति के साथ बँधती है।
- (२३) जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक नवीन मिथ्यात्व कर्म का बंध होता है। मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व कर्म का बंध नहीं होता।
- (२४) दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उदय है, सूक्ष्म लोभरूप परिणाम है; तथापि नया सूक्ष्म लोभ का बंध नहीं होता।
- (२५) दसवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणादि तीन घातिकर्मों का बंध होता है।
- (२६) देव गति के जीव, देवायु एवं नरकायु का बंध नहीं करते।
- (२७) नारकी जीव, नरकायु व देवायु का बंध नहीं करते।
- (२८) साता के उदय में असाता का एवं असाता के उदय में साता वेदनीय कर्म का बंध संभव है; क्योंकि ये दोनों प्रतिपक्षी हैं।
- (२९) आनतादि देवों में मनुष्यगति का ही निरंतर बंध होता है; क्योंकि वे नियम से अगले भव में मनुष्य ही होते हैं। (ध. ६ गत्यागति चूलिका)
- (३०) ईशान स्वर्ग से लेकर नीचे के (भवनत्रिक) सकल देव, एकेन्द्रिय जाति का भी बंध कर सकते हैं। दूसरे स्वर्ग से ऊपर के नहीं।
- (३१) तीसरे आदि स्वर्गों के देव, पंचेन्द्रिय जाति का ही बंध करते हैं।
- (३२) बारहवें स्वर्ग तक के देव, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यच का बंध कर सकते हैं।
- (३३) बंध अवस्था को प्राप्त कर्म उदय के बिना सत्ता में स्थित रहते हुये फल नहीं देता।

३३. प्रश्न - जिनागम में बंधरूप करण का वर्णन अधिक क्यों है?

उत्तर : (१) कर्म का बंध होने के बाद ही अन्य करणों की चर्चा शक्य है; इसलिए इस अपेक्षा से कर्म का बंध करण सभी करणों का मूल है।

(२) जिनागम में बंध का वर्णन बहुत है; क्योंकि संसारी जीव को बंध अनादि से है।

(३) षट् खण्डागम खुदाबंध एवं बंध स्वामित्व विचय - ये दो खण्ड, बंध की ही प्ररूपणा करते हैं।

अधिकार तीसरा

सत्त्व/सत्ता

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्नोत्तर विभाग में जो विषय आयेगा, उसका विशद ज्ञान हो; इस अभिप्राय से हमने अनेक प्रश्नोत्तर के सहारे से सत्ता करण की चर्चा करने का प्रयास किया है।

१. प्रश्न : “सत्ता-सत्त्व करण में स्थित कर्मों में भी जीव के परिणामों के निमित्त से परिवर्तन होता है”; इससे हमें क्या बोध मिलता है?

उत्तर :- मुख्य बोध तो यही मिलता है कि कर्म का बंध हो जाने पर भी उसका फल उसी रूप में भोगना अनिवार्य नहीं; क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म का उदय आने के पहले ही, सत्त्व में स्थित कर्म का अनुभाग व स्थिति हीनाधिक हो सकते हैं अथवा बदल भी सकते हैं। जैसे - पुण्य का पापरूप होना; मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरणरूप होना आदि।

यदि ऐसी व्यवस्था नहीं होती तो मधुराजा जैसे लोगों ने अपने मनुष्य भव में अर्थात् राजा की अवस्था में, पर-राजा की रानी का अपहरण करने जैसा अत्यन्त घृणित पाप कार्य किया था। वही राजा का जीव अपने भावी भव में मुनि बनकर सिद्ध भगवान कैसे हो सकता था? प्रथमानुयोग शास्त्र में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

२. प्रश्न : किए हुए पाप का फल मिलना अनिवार्य नहीं रहेगा तो किए हुए पुण्यकर्म का फल भी नहीं मिलेगा? - किया हुआ पुण्य व्यर्थ चला जायेगा - तो क्या करें?

उत्तर :- अरे भाई! तुम्हारी पाप-पुण्य से रहित होकर भगवान बनने की भावना है अथवा पुण्य का फल भोगने की दुर्वासना है।

पुण्य का फल भोगना भी आकुलतामय है; यह विषय आपको अभी तक समझ में नहीं आया हो तो तत्त्वाभ्यास करो।

अनादिकालीन संसार में अनंत बार ऐसे प्रसंग बने हैं, जिस कारण से किए हुए पुण्य का फल नहीं मिला (एकेन्द्रिय व इतर निगोद में जाने के कारण)। पुण्य कर्म उदय में आने के पहले ही पाप में परिवर्तित हो गया है; अतः पुण्य का फल भोगने की भावना उचित नहीं है।

३. प्रश्न : स्वयं किए हुए पाप कर्म का फल नहीं मिलता; ऐसा निर्णय होने से जीव स्वच्छंद तो नहीं होंगे?

उत्तर : उपर्युक्त कर्म का स्वरूप जानने से ज्ञानी जीव, कर्म के मात्र ज्ञाता होते हैं; अतः उनकी जगत की ओर देखने की दृष्टि ही बदल जाती है। इस कारण पात्र जीवों को अनावश्यक व्यर्थ की शंका होती ही नहीं और जीव स्वच्छन्द भी नहीं होते।

भाई! आपको आत्मसन्मुख होने का परिणाम आवश्यक है। अनावश्यक विषयों में क्यों फँस रहे हो? वीतराग जिनधर्म के क्षेत्र में आने पर जीव को मात्र स्वकल्याण को ही मुख्य रखना चाहिए।

कदाचित् भूमिकानुसार दूसरे के कल्याण की भावना हो भी जाए तो भी उसको हेय जानकर-मानकर उसके प्रति उपेक्षा भाव ही चाहिए।

कर्म बलवान नहीं है, जीव ही बलवान है; यह जिनधर्म का जयघोष है। ऐसा हमें पक्का निर्णय होना आवश्यक है; क्योंकि जीव के परिणाम के अनुसार कर्मों में हमेशा परिवर्तन होता ही रहता है।

४. प्रश्न :- ‘सत्त्व स्वयं कभी फलरूप नहीं होता।’ इसका अभिप्राय क्या है?

उत्तर :- सत्त्व स्वयं उदय के बिना कभी फलरूप नहीं होता; इसका अर्थ - जो सत्त्व करण में पड़ा हुआ कर्म है, वह फल नहीं दे सकता।

यदि जीव के साथ जिन कर्मों का अस्तित्व बना हुआ है, वे कर्म सत्ता (सत्त्व) अवस्था में रहते हुए अनिवार्य रूप से फल देंगे तो जीवन में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आयेंगी। जैसे -

(१) तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता सहित असंख्यात जीव हमेशा ही देवगति में रहते हैं। यदि देवगति में तीर्थंकर प्रकृति का उदय आना प्रारंभ होगा तो असंयमी को तीर्थंकर मानना पड़ेगा। स्वर्ग के वैभव के साथ तीर्थंकर प्रकृति के उदय से प्राप्त समवसरण, दिव्यध्वनि का उपदेश, उनके भगवानपने का व्यवहार आदि कैसे हो पायेगा? इसलिए कर्म की सत्ता, कभी उदयरूप कार्य नहीं करती।

(२) नरकगति में भी असंख्यात नारकी जीवों को तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रहती है। वहाँ सभी जीव, परस्पर मारते-पीटते हैं; इसलिए वहाँ तीर्थंकर प्रकृति के उदय का कार्य सम्भव नहीं है।

(३) जिस मनुष्य भव में जो जीव तीर्थंकर होनेवाले हैं, वे जब गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हैं उस समय भी तीर्थंकर कर्म प्रकृति उदय में नहीं आती; क्योंकि उनके साथ सामान्य मनुष्य का, तीर्थंकर-जैसा व्यवहार कैसे होगा? वे समवसरण में विराजमान रहेंगे या गृहस्थोचित लौकिक कार्यों में? वे भोजन-पानी, राज्य-कारोबार करते रहेंगे तो उस समय तीर्थंकर प्रकृति का उदय कैसे सम्भव होगा?

कर्म के सत्त्वरूप स्थिति का काल समाप्त होने के बाद ही अर्थात् कर्म का उदय-काल आने पर ही जीव को कर्म का फल प्राप्त होता है।

(४) तीर्थंकर, भावलिंगी मुनि अवस्था को धारण करेंगे तो उनके साथ क्या मुनि जैसा व्यवहार रहेगा अथवा तीर्थंकर भगवान जैसा? अतः सत्त्वरूप कर्म का सत्त्वरूप अवस्था में ही उदय नहीं आयेगा।

(५) वायुकायिक एवं तेजकायिक जैसी निकृष्ट तिर्यच पर्याय में आहारक-शरीर नामकर्म की सत्ता होने से उन एकेन्द्रिय जीवों को आहारक ऋद्धि के प्रयोग का प्रसंग प्राप्त होगा।

(६) सत्तारूप कर्म भी फल देते रहेंगे और उदयरूप कर्म तो फल देंगे ही तो जिसे फल मिलनेवाला है, उस जीव की अवस्था कैसी बनेगी? यह तो मात्र कल्पनागम्य ही है।

(७) यदि सत्त्वरूप सर्व कर्म ने जीव को एक समय में ही सर्व फल दिया तो अगले समय में जीव आठों कर्मों से रहित हो जायेगा; इसलिए सत्तारूप कर्म, सत्ता में ही रहते हुए कभी भी फल नहीं देगा।

कर्म की सत्ता तो कारण है और उदय करण कार्य है; इसलिए उदय करणरूप कर्म, उदय का फल देगा - ऐसा जानना-मानना चाहिए। सत्त्वरूप कर्म, उदयरूप नहीं हो सकता; क्योंकि जो कारण है, उसे कार्य नहीं कह सकते।

(८) बंध करण के चर्चात्मक प्रश्नोत्तर में 'बंध अवस्था को प्राप्त कर्म, फल नहीं दे सकता' इसका विवेचन करते समय जो बताया है, उसे भी यहाँ समझ लेना उपयोगी होगा।

५. प्रश्न :- सत्त्व करण को नहीं मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेंगी?

उत्तर :- (१) बंध करण के कार्य को नहीं मानने की आपत्ति आयेंगी। बंधकरण कारण है और सत्त्व करण कार्य है। कार्य को न मानने से ज्ञान की समीचीनता में बाधा उत्पन्न होगी।

(२) यदि सत्ता न हो तो उदयरूप करण का भी अभाव हो जायेगा।

(३) यदि कर्म की सत्ता न हो तो कर्म के उदयरूप कार्य नहीं हो सकेगा।

(४) जिस कर्म का बंध होता है; उसका तत्काल फल जीव को नहीं मिलता। हजारों-लाखों वर्ष अर्थात् अनेक जन्म के पहले किए हुए पुण्य-पाप का फल, वर्तमान काल में जीव को मिलता है; यह विषय हम प्रथमानुयोग के शास्त्रों में पढ़ते हैं। इसका अर्थ पुण्य-पापरूप कर्म करने का काल अलग और उसका फल मिलने का काल अलग है।

पुण्य-पाप करते समय कर्म का बंध होता है और हजारों-लाखों वर्ष बीत चुकने के बाद इस कृत पुण्य-पाप का फल मिलता है। बीच के काल में कर्म का जीव के साथ जो अस्तित्व रहता है, उसे ही सत्ता कहते हैं। इसतरह कर्म की सत्ता सिद्ध हो ही जाती है।

कदाचित् किसी जीव को कर्मबंध होने के बाद अंतर्मुहूर्त काल के भीतर भी फल मिल सकता है।

सत्ता (सत्त्व) करण संबंधी ब्र. जिनेन्द्र वर्णीजी के विचार निम्नानुसार हैं -

“सत्ता, कर्मबंध की द्वितीय अवस्था है। सत्ता का अर्थ अस्तित्व या विद्यमानता (मौजूदगी) है। कर्मबंध से फलप्राप्ति के बीच की अवस्था, सत्ता कहलाती है। इसका फलितार्थ है - पूर्व-संचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना, ‘सत्ता’ (सत्त्व) है।

सत्ता, जीव के लिए बाधक नहीं होती; क्योंकि उदय में आए बिना उसका कोई फल नहीं मिलता; अतः सुख-दुःख का कारण, उदय है; सत्ता नहीं।

जैसे शराब पीते ही वह तुरन्त अपना असर नहीं करती, किन्तु कुछ देर बाद ही असर करती है।

पैसा खजाने में पड़ा रहता है, वैसे ही कर्म भी आत्मा के (साथ) खजाने में पड़ा रहता है, इसी का नाम सत्ता है।”

प्रश्न : आत्मा और बन्ध को भिन्न करने का साधन क्या?

उत्तर : आत्मा और बन्ध को भिन्न करने में भगवती प्रज्ञा ही एक साधन है। राग से भिन्न स्वभावसन्मुख उपयोग का झुकाव करना, एकाग्रता करना, ढलना - यही एक साधन है। राग से भिन्न पड़ने में ज्ञानातिरिक्त अन्य कोई साधन है ही नहीं।

- आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ-२५

भावदीपिका चूलिकाधिकार

अब यहाँ सत्ता करण के विषय को समझने के लिए पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका शास्त्र के चूलिका अधिकार को प्रस्तुत करते हैं।

“कर्म की सत्त्व करण अवस्था कहते हैं -

बंध समय से लेकर अपनी स्थिति के अंत पर्यंत जब तक कर्मत्व शक्ति को लिये हुए पुद्गल परमाणु जीव के साथ रहते हैं, उदय में नहीं आते, तब तक कर्म की सत्त्वरूप अवस्था कहलाती है।

जिस समय चार प्रकार विशेष को लिये हुए कर्मबंध होता है, उसी समय से लेकर अपने-अपने योग्य आबाधा काल को छोड़कर निषेक रचना होती है।

जितनी-जितनी स्थिति पड़ती है, उसका उतना-उतना समय होता है। उन समयों के प्रथम समय से लेकर अंत समय पर्यंत गुणहानि रचना का अनुक्रम लिये चय-चय प्रमाण द्रव्य हीन होता है और वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि का अनुक्रम लिये अनुभाग प्रति समय बढ़ता रहता है, उसका नाम निषेक-रचना है।

वहाँ प्रथम निषेक की स्थिति एक समय अधिक आबाधाकाल प्रमाण है। दूसरे निषेक की स्थिति दो समय अधिक आबाधा काल प्रमाण है।

इसीतरह प्रत्येक निषेक की एक-एक समय की स्थिति अधिक है। अंत के निषेक की स्थिति अपना आबाधाकाल अधिक सम्पूर्ण स्थिति प्रमाण है।

इसलिए जब तक जिस-जिस कर्म की स्थिति पूर्ण होकर उदय को प्राप्त न हो तब तक कर्म का संचयरूप रहना, उसे सत्त्व कहते हैं।

वह सत्त्व भी चार प्रकार का है - प्रदेशसत्त्व, प्रकृतिसत्त्व, स्थिति-सत्त्व, अनुभागसत्त्व। उन स्थितिसत्त्व आदि चारों प्रकार के सत्त्व का कारण भी जीव के शुभाशुभ भाव ही हैं।

जीव के भाव का निमित्त पाकर चारों ही प्रकार का सत्त्व घटता है। उत्कृष्ट से मध्यम-जघन्य, मध्यम से उत्कृष्ट व जघन्य, जघन्य से उत्कृष्ट-मध्यम - इसप्रकार अनेक अवस्था को प्राप्त होता है।

शुभभाव होने पर सातावेदनीय आदि अघातिया की शुभप्रकृतियों के स्थिति-अनुभागादि सत्त्व में वृद्धि हो जाती है। ज्ञानावरणादि चार घातिया की और असातावेदनीय आदि अघातिया की अशुभप्रकृतियों के स्थिति-अनुभागादि घट जाते हैं।^१

अशुभभाव होने पर अशुभप्रकृतियों के स्थिति-अनुभागादि सत्त्व बढ़ जाते हैं और सातावेदनीय आदि शुभप्रकृतियों के स्थिति, अनुभाग, सत्त्व घट जाते हैं।^२

प्रश्न : क्या शुद्धि और अशुद्धि एक पर्याय में साथ ही साथ हैं?

उत्तर : हाँ! साधक को शुद्धि और अशुद्धि एक ही पर्याय में साथ-साथ होने पर भी अशुद्धता का जो ज्ञान होता है, वह अपना है; अशुद्धता अपनी नहीं।

- आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ-२५

१. शुभभाव होने पर सत्तास्थित सातावेदनीय आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों की अनुभाग में वृद्धि हो जाती है।

२. अशुभभाव होने पर सत्तास्थित समस्त सातावेदनीय आदि पुण्य कर्म प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में हानि हो जाती है।

भावदीपिका का उपर्युक्त कथन सामान्य कथन है, ऐसा समझना चाहिए।

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :- सत्त्व अथवा सत्ता किसे कहते हैं?

उत्तर :- अनेक समयों में बँधे हुए कर्मों का विवक्षित काल तक जीव के प्रदेशों के साथ कर्मरूप में अस्तित्व होने का नाम सत्त्व है।

२. प्रश्न :- सत्त्व के कितने भेद हैं?

उत्तर :- सत्त्व के चार भेद हैं - प्रकृति सत्त्व, प्रदेश सत्त्व, स्थिति सत्त्व और अनुभाग सत्त्व।

३. प्रश्न :- कर्मों की सत्त्वयोग्य प्रकृतियाँ कितनी हैं?

उत्तर :- ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के क्रम से ज्ञानावरण कर्म ५ + दर्शनावरण कर्म ९ + वेदनीय कर्म २ + मोहनीय कर्म २८ + आयुर्कर्म ४ + नाम कर्म ९३ + गोत्र कर्म २ + अन्तराय कर्म ५ = १४८ प्रकृतियाँ सत्त्वयोग्य हैं। (यह कथन नाना जीवों की अपेक्षा से है।)

४. प्रश्न :- पुण्य प्रकृतियाँ कितनी और कौन-सी हैं?

उत्तर :- सातावेदनीय, तीन आयु (तिर्यच, मनुष्य और देव), उच्च गोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन अंगोपांग, ५ शुभ वर्ण, २ शुभ गंध, ५ शुभ रस, ८ शुभ स्पर्श, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थकर - ये ६८ प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं।

५. प्रश्न :- पाप प्रकृतियाँ कितनी और कौन-सी हैं?

उत्तर :- घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ, नीच गोत्र, असाता-वेदनीय, नरक आयु, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यच गति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय आदि ४ जातियाँ, समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर शेष पाँच संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष पाँच संहनन, ५ अशुभ वर्ण, ५ अशुभ रस, २ अशुभ गन्ध, ८ अशुभ स्पर्श, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति - ये १०० पाप प्रकृतियाँ हैं।

पुण्य प्रकृतियों की संख्या ६८ और पाप प्रकृतियों की संख्या १००- दोनों का जोड़ हुआ १६८; जबकि उत्तरप्रकृतियों की संख्या १४८ है।

यहाँ २० प्रकृतियों की बढ़ोत्तरी इसलिए हुई कि स्पर्शादि २० प्रकृतियाँ पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं। इसलिए दोनों जगह उनकी गिनती होती है।

६. प्रश्न : सत्त्व (सत्ता) करण का स्वरूप क्या है?

उत्तर : (१) सत्त्व शब्द से यहाँ कर्मों की सत्ता विवक्षित है।

(२) कर्मस्कन्ध जीव-प्रदेशों से सम्बद्ध होकर कर्मरूप पर्याय से परिणत होने के प्रथम समय में बन्ध व्यपदेश को प्राप्त होते हैं और वे ही कर्मपरमाणु, फलदान के समय (उदय क्षण) से पहले समय तक 'सत्त्व' इस संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

(३) बन्ध ही बँधने के दूसरे समय से लेकर निर्लेपन अर्थात् क्षपण होने के अन्तिम समय तक सत्कर्म या सत्त्व कहलाता है।^१

(४) बन्ध के साथ सत्त्व होता है। जब तक उस कर्म का वेदन होकर वह अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता; तब तक उस कर्म का 'सत्त्व' रहता है; अर्थात् 'सत्त्व करण' रहता है।^१

- (५) सत्त्व का कारण तो बन्ध ही है।
- (६) उदय का कारण, सत्त्व है।^२
- (७) सत्त्व, जीव के विकारी परिणामों के कार्य का कार्य है।
- (८) विकारी परिणामों का कार्य कर्मबन्ध है।
- (९) बन्धरूप कारण का कार्य सत्त्व है।
- (१०) अनादि के विकारी परिणामों व अनादि के बद्ध कर्मों में इसीप्रकार परस्पर कारणकार्यरूप या कार्यकारणरूप (निमित्तरूप) सम्बन्ध है।
- (११) सत्त्व स्वयं उदय करण के बिना कभी फलरूप नहीं होता।
- (१२) यदि सत्त्वमात्र से फल मिलने लग जाय तो तीर्थकर प्रकृति के सत्त्व वाले असंख्यात नारकियों को नारक पर्याय में भी तीर्थकर मानने का अपरिहार्य प्रसंग आयेगा।
- (१३) सौधर्मादि देवों में भी तीर्थकर प्रकृति के सत्त्व वाले असंख्यात जीवों में भी यही प्रसंग आयेगा।
- (१४) सत्त्व उदय नहीं हो सकता; क्योंकि सत्त्व कारण है; उदय कार्य है तथा जो कारण है, उसे ही कार्य नहीं कह सकते।
- (१५) जीवों के साता वेदनीय व असाता वेदनीय में से किसी एक का ही (बन्ध-योग्य स्थान में) बन्ध अथवा उदय होता है; परन्तु सत्त्व तो उस समय दोनों (साता-असाता) का ही है।^३
- (१६) अनेक समयों में बँधी हुई ज्ञानावरणादि मूल प्रकृति या उत्तर प्रकृति का जो अस्तित्व है, उसे प्रकृतिसत्त्व कहते हैं।
- (१७) प्रकृतिरूप परिणत जो कर्मस्कन्ध हैं, उनके जो परमाणु सत्ता में मौजूद हैं, उस परमाणु समुदाय को 'प्रदेशसत्त्व' कहते हैं।

- (१८) अनेक समयों में बँधी हुई प्रकृतियों की जो स्थितियाँ हैं, वही स्थितिसत्त्व कहलाता है।
- (१९) अनेक समयों में बद्ध प्रकृतियों का जो अनुभाग, सत्ता में पाया जाता है; उसे अनुभागसत्त्व कहते हैं।
- (२०) 'डेढ़गुणहानिगुणितसमयप्रबद्ध' प्रमाण परमाणुओं का सत्त्व ही प्रदेशसत्त्व कहलाता है। इतना प्रदेशसत्त्व प्रायः प्रत्येक जीव के सदा काल पाया जाता है।
- (२१) तीर्थकर प्रकृति के सत्त्व वाले जीव, संसार में नित्यमेव असंख्यात मिलते हैं; नरकों में भी असंख्यात हैं एवं स्वर्गों में भी असंख्यात हैं।
- (२२) जिन मिथ्यात्वियों के तीर्थकर प्रकृति का सत्त्व होता है, उनके आहारकद्विक का सत्त्व नहीं होता।^१
- (२३) जिन मिथ्यात्वियों के आहारकद्विक का सत्त्व होता है, उनके तीर्थकर प्रकृति सत्ता में नहीं होती।
- (२४) सासादन गुणस्थान में तो किसी भी जीव के तीर्थकर प्रकृति का सत्त्व नहीं होता।
- (२५) सासादन जीव के आहारकद्विक की सत्ता भी नहीं बनती है।
- (२६) सम्यग्मिथ्यात्व परिणामयुक्त जीवों के तीर्थकर प्रकृति की सत्ता नहीं होती।
- (२७) तिर्यचों में तीर्थकर प्रकृति की सत्ता नहीं होती।^२
- (२८) जिनके नरक आयु का सत्त्व है; उन तिर्यच व मनुष्यों के देशव्रतरूप परिणाम नहीं होते।
- (२९) जिन जीवों के तिर्यच आयु की सत्ता है, उनके सकल संयमपना नहीं बन सकता।

- (३०) जिनके देवायु का सत्त्व हो, ऐसे मुनिराज कर्मों की पूर्ण क्षपणा नहीं कर पाते, उपशमश्रेणी भले ही चढ़ जावें।
- (३१) जिनके एक बार मिथ्यात्व का असत्त्व हो जाता है, उनके फिर से उसका सत्त्व कभी नहीं हो सकता।
- (३२) नारकियों में देवायु का सत्त्व नहीं होता।
- (३३) देवों में नरकायु का सत्त्व नहीं होता।
- (३४) एक जीव के भुज्यमान तथा बध्यमान इन दो आयु से अधिक तीसरी आयु का सत्त्व सम्भव नहीं है।
- (३५) कम से कम एक आयु का (भुज्यमान आयु का) सत्त्व, सकल संसारी जीवों के होता ही है।
- (३६) तीर्थकर प्रकृति की सत्ता तीसरे नरक पर्यन्त ही होती है।
- (३७) तीर्थकर प्रकृति की सत्ता सौधर्मादि सभी स्वर्गों में सम्भव है।
- (३८) साता व असाता दोनों का सत्त्व तेरहवें गुणस्थान तक के सभी जीवों के रहता है।

७. प्रश्न : कर्म की सत्ता (सत्त्व, अस्तित्व) का वर्णन अधिक क्यों?

- उत्तर : (१) सत्ता, बंध का कार्य है और उदय का कारण है।
- (२) सत्ता का कारण बंध है और सत्ता का कार्य उदय है।
- (३) सत्ता के कारण और कार्य का वर्णन अधिक है; इसलिए सत्ता का वर्णन भी अधिक है।
- (४) उदय, उदीरणा आदि का कथन, सत्ता के बिना नहीं हो सकता। ●

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-३३३

२. वही, गाथा-३४५

अधिकार चौथा

उदय

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

प्रस्तुत उदय करण विषय का विचार करते समय मेरे मन में जो प्रश्न सहज उत्पन्न हुये थे, उनका उत्तर देने का मैंने प्रयत्न किया है।

१. प्रश्न :- उदय करण का स्वरूप जानने से कर्म के उदय के अनुसार ही जीव के भाव होते हैं तो कर्म ही बलवान हो गया, कर्म के अनुसार ही जीव को नाचना पड़ेगा। जीव अपनी ओर से स्वतंत्र कुछ कर ही नहीं सकता; ऐसा हमें भी लग रहा है।

प्रथमानुयोग की अनेक कहानियाँ भी इसी विषय को पुष्ट करती हैं। तीर्थकर (होने वाले) आदिनाथ मुनिराज को अनेक माह तक आहार नहीं मिला। मुनिराज पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हो गया। इन विषयों को जानते हुए हमें भी कर्म ही बलवान लग रहा है। आप सत्य का ज्ञान कराइए?

उत्तर :- कर्म है, उसका उदय है, उदयानुसार कार्य होता है - ऐसा कथन भी शास्त्र में मिलता है। इसका अर्थ कर्म बलवान है, जीव का उसके सामने कुछ नहीं चल सकता - ऐसा नहीं है।

जब कर्म का उदय रहता है, तब जीव अपने में कुछ परिवर्तन किए बिना क्या खाली बैठा रहता है? क्रोधादि परिणामरूप अपराध तो जीव, स्वयं करता है।

क्रम से हम इसके सत्य स्वरूप को जानने का प्रयास करते हैं।

कर्म के दो भेद हैं - १. घाति कर्म और २. अघाति कर्म। इनमें से पहले हम अघाति कर्म की बात करेंगे। अघाति कर्मों के ४ भेद हैं - उनके नाम क्रमशः वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र हैं। प्रत्येक का कार्य भी भिन्न-भिन्न ही है। बाह्य संयोग प्राप्त होने में ४ अघाति कर्म की निमित्तता है।

वेदनीय :- जीव के सुख-दुःखभाव के वेदन में निमित्त होना - ये वेदनीय कर्म के कार्य हैं।

आयु :- विशिष्ट काल-मर्यादा तक जीव को मनुष्यादि गतियों में (भवों में) रोकने में मात्र निमित्त होना, यह आयु कर्म का कार्य है।

नाम :- गति, जाति, शरीर आदि का जीव से संयोग कराने में निमित्त होना, यह नाम कर्म का कार्य है।

गोत्र :- नीच अथवा उच्च विचार वाले कुल में जीव का जन्म होने में निमित्त होना, यह गोत्र कर्म का कार्य है।

इसतरह चारों अघाति कर्मों का कार्य विभिन्न प्रकार के संयोग प्राप्त कराने में निमित्त रूप से ही फलता है अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों को प्राप्त कराने में ही चारों अघाति कर्म, कार्य करते हैं; निमित्त होते हैं। इनका संबंध जीव के परिणामों से नहीं है।

संयोग तो अन्य जीव एवं पुद्गलादिरूप है।

संयोग में वेदनीय आदि कर्म ही बलवान है, ऐसा उपचार से कहोगे तो भी हमें कुछ आपत्ति नहीं है। संयोगरूप पदार्थ, पर-द्रव्यरूप है।

संयोग-वियोग तो अघाति कर्मों के निमित्त से कहा जाता है। उसमें जीव का कुछ कर्तव्य नहीं है।

ज्ञानावरणादि चार घाति कर्म हैं।

ज्ञानावरण-दर्शनावरण अन्तराय कर्म के क्षयोपशम का निमित्त होने पर ज्ञान और दर्शन गुण की अल्प मात्रा में व्यक्तता रहती है।

मोहनीय के निमित्त होने पर मिथ्या श्रद्धान तथा क्रोधादि विकारी भाव उत्पन्न होते हैं।

अंतराय के उदय होने पर जीव के स्वभाव; दीक्षा लेने आदि के सामर्थ्यरूप वीर्य की व्यक्तता नहीं होती।

आगे कर्म के बलवानपने को लेकर पण्डित टोडरमलजी के विचार उन्हीं के शब्दों में दे रहे हैं -

२. “यहाँ कोई प्रश्न करे कि - कर्म तो जड़ हैं, कुछ बलवान नहीं हैं; उनसे जीव के स्वभाव का घात होना व बाह्य सामग्री का मिलना कैसे संभव है?

समाधान :- यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्य सामग्री को मिलावे तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिये और बलवानपना भी चाहिये; सो तो है नहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जब उन कर्मों का उदयकाल हो; उस काल में स्वयं ही आत्मा, स्वभावरूप परिणमन नहीं करता; विभावरूप परिणमन करता है तथा जो अन्य द्रव्य हैं, वे वैसे ही सम्बन्धरूप होकर परिणमित होते हैं।

जैसे - किसी पुरुष के सिर पर मोहनधूल पड़ी है, उससे वह पुरुष पागल हुआ; वहाँ उस मोहनधूल को ज्ञान भी नहीं था और बलवानपना भी नहीं था; परन्तु पागलपना उस मोहनधूल ही से हुआ देखते हैं।

वहाँ मोहनधूल का तो निमित्त है और पुरुष स्वयं ही पागल हुआ परिणमित होता है - ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है।

तथा जिस प्रकार सूर्य के उदय के काल में चकवा-चकवियों का

संयोग होता है; वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेषबुद्धि से बलजबरी करके अलग नहीं किये हैं, दिन में किसी ने करुणाबुद्धि से लाकर मिलाये नहीं हैं, सूर्योदय का निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं और सूर्यास्त का निमित्त पाकर स्वयं ही बिछुड़ते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है। उसी प्रकार कर्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना। इसप्रकार कर्म के उदय से अवस्था है।”

कर्म के बलवानपने का निषेध करने वाला मोक्षमार्गप्रकाशक का अंश पृष्ठ ३१०-३११ का भाग अति उपयोगी होने से आगे हम दे रहे हैं -

३. “फिर प्रश्न है कि भ्रम का भी तो कारण कर्म ही है, पुरुषार्थ क्या करें?

उत्तर :- सच्चे उपदेश से निर्णय करने पर भ्रम दूर होता है; परन्तु ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता, इसी से भ्रम रहता है। निर्णय करने का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का कारण जो मोहकर्म, उसके भी उपशमादि हों तब भ्रम दूर हो जाये; क्योंकि निर्णय करते हुए परिणामों की विशुद्धता होती है, उस निमित्त से मोह के स्थिति-अनुभाग घटते हैं।

४. फिर प्रश्न है कि निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता, उसका भी तो कारण कर्म है?

समाधान :- एकेन्द्रियादि के विचार करने की शक्ति नहीं है, उनके तो कर्म ही का कारण है। इसके तो ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम से निर्णय करने की शक्ति हुई है, जहाँ उपयोग लगाये, उसी का निर्णय हो सकता है। परन्तु यह अन्य निर्णय करने में उपयोग लगाता है, यहाँ उपयोग नहीं लगाता। सो यह तो इसी (जीव) का दोष है, कर्म का तो कुछ प्रयोजन नहीं है।

५. फिर प्रश्न है कि सम्यक्त्व-चारित्र का घातक मोह है, उसका अभाव हुए बिना मोक्ष का उपाय कैसे बने?

उत्तर :- तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग न लगाये, वह तो इसी (जीव)

का दोष है तथा पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाये तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है।

इसलिये मुख्यता से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना। उपदेश भी देते हैं, सो यही पुरुषार्थ कराने के अर्थ दिया जाता है तथा इस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ अपने आप सिद्ध होगा।

तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादि को लगाता है; सो जिन-आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है।

तुझे विषयकषायरूप ही रहना है, इसलिये झूठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिये बनाये? सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने; तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा; इसलिए जानते हैं कि मोक्ष को देखादेखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता।

हित जानकर उसका उद्यम बने सो न करे, यह असंभव है।”

हम भी तर्क के आधार से कर्म और जीव के संबंध में कुछ विचार करते हैं।

६. प्रश्न :- कर्म के उदय का समय एवं औदयिक भाव - इन दोनों का समय/काल एक ही है अथवा भिन्न-भिन्न है - इस विषय को लेकर हमें भी थोड़ा यहाँ सूक्ष्मता से विचार करना है।

१. जैसे जीव को क्रोध कषाय का उदय पहले समय में आता है और जीव को क्रोध भाव दूसरे समय में होता है; क्या ऐसा है?

२. अथवा पहले क्रोध भाव उत्पन्न होता है और दूसरे समय में क्रोध कषाय कर्म का उदय आता है; क्या ऐसा है?

३. अथवा क्रोध कषाय का उदय और जीव में उत्पन्न होने वाला क्रोध भाव - दोनों का समय एक ही है; क्या ऐसा है?

उत्तर :- तीनों में से तीसरा प्रकार अर्थात् कर्म का उदय और औदयिक भाव - दोनों का समय एक ही है; यह जैन आगम का कथन

है। फिर दोनों का समय एक ही है तो कर्म के उदय ने जीव के भावों को उत्पन्न किया; यह बात कैसी बन सकती है ?

हाँ, कर्म का उदय और जीव के भावों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है - दोनों में काल-प्रत्यासत्तिरूप बाह्यव्याप्ति है। दोनों का अर्थात् कर्म का उदय एवं औदयिक भाव का काल/समय एक ही है; इसलिए किसी कर्म ने किसी जीव के विकार का कार्य किया है, यह बात सिद्ध ही नहीं हो सकती।

अर्थात् कर्म के उदय ने जीव के भाव किए - यह बात सिद्ध नहीं होती; इसलिए कर्म बलवान है, जीव बलहीन है; यह कथन, कथनमात्र ही है, वास्तविक नहीं।

इसलिए कर्म बलवान है; यह बात, आगम/वस्तुस्वरूप को मान्य नहीं।

७. प्रश्न :- प्रथमानुयोग में कहानी के प्रसंग में अथवा करणानुयोग में कर्म के बलवानपने की बात आती है; मात्र आपके मना करने से क्या होता है?

उत्तर :- अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से अनेक जगह शास्त्रों में भी कर्मों को बलवान लिखा है। यहाँ नय के आधार से यथार्थ अर्थ करने एवं समझने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रसंग में मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र से मार्गदर्शन लेना अति महत्त्वपूर्ण है। वह निम्न प्रकार से है -

“निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया है; उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।”

आगे पण्डित श्री टोडरमलजी प्रश्नोत्तररूप में पाठकों को और विशेषरूप से समझाते हैं -

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५०

८. “प्रश्न – यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

उत्तर :- जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है; उसे तो - ‘सत्यार्थ ऐसे ही है’ ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है; उसे ‘ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है’ - ऐसा जानना।

इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर ‘ऐसे भी है, ऐसे भी है’ इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से दोनों नयों का ग्रहण करना, नहीं कहा है।”

आचार्य श्री अमितगति ने भी योगसारप्राभृत ग्रन्थ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है -

“न कर्म हन्ति जीवस्य, न जीवः कर्मणो गुणान्।

वध्य-घातक-भावोऽस्ति, नान्योऽन्यं जीवकर्मणोः ॥”

सरलार्थ :- ज्ञानावरणादि कर्म, जीव के ज्ञानादि गुणों का घात/नाश नहीं करते और जीव, कर्मरूप पुद्गल के स्पर्शादि गुणों का घात नहीं करता। ज्ञातास्वभावी जीव और स्पर्शादि गुणमय कर्म - इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के साथ वध्य-घातक भाव नहीं है - अर्थात् दोनों स्वतंत्र हैं। एक दूसरे के घातक नहीं है।”

मोक्षमार्गप्रकाशक एवं योगसारप्राभृत के उद्धरण से हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कर्म बलवान नहीं है, जीव बलहीन नहीं है। दोनों अपने-अपने में पूर्ण स्वतंत्र और स्वाधीन हैं।

परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहना, अलग बात है। अज्ञानी को निमित्त-नैमित्तिक संबंध में कर्ता-कर्म संबंध भासित होता है, वह उसका घोर एवं दुःखदायक अज्ञान है।

समयसार ग्रन्थ में कर्म एवं जीव दोनों अपने-अपने में स्वतंत्र परिणामते हैं, ऐसा कथन अनेक जगह आया है। यहाँ हम मात्र उनका उल्लेख कर रहे हैं। जिज्ञासु उन प्रकरणों को देखकर अपना ज्ञान-श्रद्धान यथार्थ करें।

जीव एवं पुद्गल - दोनों अपना-अपना परिणामन करने में स्वतंत्र हैं। समयसार कलश ६४, ६५; गाथा १७३ से १७६ तथा इन गाथाओं की टीका एवं पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का भावार्थ; समयसार कलश क्रमांक २१०, २१९ से २२१; प्रवचनसार गाथा १०१ एवं उनकी टीका; भाव शक्ति-अभाव शक्ति; द्रव्यत्व नामक सामान्य गुण।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचन में एक वाक्य अनेक बार आता है, उसके आधार से भी हम कुछ सोच सकते हैं। वाक्य इसप्रकार - ‘कर्म के उदय से होनेवाला औदयिक परिणाम, कर्म के उदय के बिना होता है।’ कर्म के उदय का निमित्त होने पर होने वाले औदयिक परिणाम का जीव ही उपादान कारण है, कर्म नहीं।

इस एक ही वाक्य में किया गया कथन परस्पर विरोधी है। वाक्य के पूर्वार्ध में कहा - ‘कर्म के उदय से होनेवाला औदयिक परिणाम’, वाक्य के अन्तिम विभाग में कहते हैं - ‘वह औदयिक परिणाम, कर्म के उदय के बिना होता है।’

इसका मर्म यह है कि निमित्त की मुख्यता से जब कथन करना हो तो यही कथन करना आवश्यक है कि - ‘कर्म के उदय से औदयिक परिणाम होता है।’

जब औदयिक परिणाम, संसारी जीव का परिणाम है, कर्म का नहीं; इसतरह उपादान की मुख्यता से कथन करना हो तो कर्म के उदय की अपेक्षा रखे बिना जीव, उस परिणाम का कर्ता है; यह समझना आवश्यक है। इस पद्धति का अवलंबन लेकर हम इसप्रकार भी वाक्य बना सकते हैं -

१. कर्म के उपशम से होनेवाला औपशमिक भाव, कर्म के उपशम होने पर ही अर्थात् उपशम के समय ही होता है; तथापि उपशम से नहीं होता।

२. कर्म के क्षय से होनेवाला क्षायिक भाव, कर्म के क्षय होने पर ही अर्थात् क्षय के काल में ही होता है; तथापि कर्म के क्षय से नहीं होता।

३. कर्म के क्षयोपशम से होनेवाला जीव का क्षायोपशमिक भाव, कर्म के क्षयोपशम होने पर ही अर्थात् कर्म के क्षयोपशम के समय ही होता है; तथापि कर्म के क्षयोपशम से नहीं होता।

इसकारण आचार्य वीरसेन ने औपशमिकादि पाँचों भावों को पारिणामिक भाव कहा है।^१

संक्षेप में मुख्यरूप से हमें यहाँ एक ही विषय बताना है कि कर्म, विकारों में अथवा संयोगों में मात्र निमित्त है। वह कर्म, जीव के विकारों को अथवा जीवादि द्रव्यों के संयोगों को बलजोरी से परिवर्तित नहीं करता।

जब क्रोधादि विभाव/विकार भाव होते हैं अथवा जीव के साथ अन्य जीवादि द्रव्यों का संयोग होता है, उसमें कर्म का उदय निमित्त मात्र होता है।

एक द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का अथवा एक समयवर्ती एक पर्याय किसी अन्य पर्याय का कुछ भी नहीं कर सकती; यह जिनधर्म की वस्तुव्यवस्था का मूल प्राण है। इस महा सिद्धान्त को छोड़ने का अर्थ, जिनधर्म ही छोड़ना है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३११ पर दिये गये “पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्ति” प्रकरण से भी इसी प्रकार का भाव स्पष्ट होता है -

१. धवला पुस्तक-५, पृष्ठ १९७

९. “यहाँ प्रश्न है कि तुमने कहा सो सत्य; परन्तु द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म होता है, भावकर्म से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है; फिर उसके उदय से भावकर्म होता है - इसी प्रकार अनादि से परम्परा है, तब मोक्ष का उपाय कैसे हो?”

समाधान :- कर्म का बन्ध व उदय सदाकाल समान ही होता रहे, तब तो ऐसा ही है; परन्तु परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्धकर्म के भी उत्कर्षण-अपकर्षण-संक्रमणादि होने से उनकी शक्ति हीनाधिक होती है; इसलिये उनका उदय भी मन्द-तीव्र होता है। उनके निमित्त से नवीन बन्ध भी मन्द-तीव्र होता है।

इसलिये संसारी जीवों को कर्मोदय के निमित्त से कभी ज्ञानादि बहुत प्रगट होते हैं, कभी थोड़े प्रगट होते हैं; कभी रागादि मन्द होते हैं, कभी तीव्र होते हैं - इसप्रकार परिवर्तन होता रहता है।

वहाँ कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पर्याय प्राप्त की, तब मन द्वारा विचार करने की शक्ति हुई तथा इसके कभी तीव्र रागादि होते हैं, कभी मन्द होते हैं। वहाँ रागादि का तीव्र उदय होने से विषय-कषायादि के कार्यों में ही प्रवृत्ति होती है तथा रागादि का मन्द उदय होने से बाह्य उपदेशादि का निमित्त बने और स्वयं पुरुषार्थ करके उन उपदेशादि में उपयोग को लगाये तो धर्मकार्यों में प्रवृत्ति हो; और निमित्त न बने व स्वयं पुरुषार्थ न करे तो अन्य कार्यों में ही प्रवर्ते, परन्तु मन्द रागादि-सहित प्रवर्ते। - ऐसे अवसर में उपदेश कार्यकारी है।

विचारशक्ति-रहित जो एकेन्द्रियादि हैं, उनके तो उपदेश समझने का ज्ञान ही नहीं है; और तीव्र रागादि-सहित जीवों का उपयोग, उपदेश में लगता नहीं है।

इसलिये जो जीव विचारशक्ति-सहित हों तथा जिनके रागादि मन्द हों; उन्हें उपदेश के निमित्त से धर्म की प्राप्ति हो जाये तो उनका भला हो; तथा इसी अवसर में पुरुषार्थ कार्यकारी है।

एकेन्द्रियादि तो धर्मकार्य करने में समर्थ ही नहीं हैं, कैसे पुरुषार्थ करें? और तीव्रकषायी पुरुषार्थ करे तो वह पाप ही का करे, धर्मकार्य का पुरुषार्थ हो नहीं सकता।

इसलिये जो विचारशक्ति-सहित हो और जिसके रागादि मन्द हों, वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो।

यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाये - या तो मन्दरागादि-सहित विषयकषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते, या व्यवहारधर्म-कार्यों में प्रवर्ते; तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी; उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होगा; तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी।

सो इसका तो कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीव का कर्तव्य कुछ नहीं है।”

भावदीपिका शास्त्र में उदयकरण का एक छोटा-सा प्रकरण है। उस छोटे से प्रकरण को आप सूक्ष्मता से पढ़ोगे तो एक नया तथा पुरुषार्थप्रेरक विषय मिलेगा। उस विषय को हम यहाँ समझने का प्रयास करते हैं।

उदयकरण को समझाते हुए ग्रंथकार चौथे अनुच्छेद में प्रदेश उदय की परिभाषा लिखते हैं -

“वहाँ जीव के परिणामों का निमित्त पाकर फल देकर या बिना फल दिये ही कर्म-परमाणुओं का खिर जाना, उसे प्रदेश उदय कहते हैं।”

यहाँ इस परिभाषा में महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि फल देकर या फल दिये बिना ही।

बद्ध कर्म की चर्चा करते समय सामान्यतः यह बात होती है कि जो कर्म, एक बार जीव के साथ बँध गया तो वह फल दिये बिना नहीं जाता। कर्म-बंध हो गया तो वह फल तो देगा ही।

कर्म के स्वरूप में और एक दूसरी बात यह है कि कर्मबंध हो गया तो उसका तो उदय आयेगा ही। उदय आये बिना कर्म को जीव से अलग होने का अन्य कोई मार्ग/उपाय है ही नहीं।

यह तो सत्य ही है कि जिस कर्म का एक बार जीव के साथ परस्परावगाहरूप बंध हो गया, वह किसी न किसी समय स्थितिबंध की काल-मर्यादा पूर्ण होने पर जीव से अलग तो होगा ही। ऐसा ही कर्मशास्त्र को स्वीकार है। अस्तु।

कर्म के जीव से अलग होने के दो प्रकार हैं। एक प्रकार तो यह है कि कर्म जीव के साथ रहने की काल-मर्यादा पूर्ण हो जाने पर फल देते हुए निकल जाता है, जिसे शास्त्र में सविपाक निर्जरा कहते हैं। कर्म का निकल जानेरूप कार्य तो हो गया; लेकिन उस कर्म ने पुनः नये कर्म का बंध किया और अपने उदयकाल में जीव को फल देकर खिर गया। इसलिए इस तरह कर्मफल देकर जो कर्म जाता है, उसे ही शास्त्र में सविपाक निर्जरा कहा है। उसको इसी भावदीपिका ग्रन्थ में निम्नप्रकार बताया है -

“एक-एक समय में एक-एक निषेक अपना-अपना फल देकर उदय को प्राप्त होते हैं और फल देकर खिर जाते हैं, उसी को सविपाक निर्जरा कहते हैं।”

यह जो सविपाक निर्जरा है, वह धर्म के क्षेत्र में कुछ उपयोगी नहीं है। ऐसी निर्जरा तो सभी संसारी जीवों को अनादि से हो ही रही है और

जब तक सम्यक्त्वादि धर्मरूप परिणाम नहीं होंगे, तब तक होती ही रहेगी।

दूसरी अविपाक निर्जरा है, उसका स्वरूप भी भावदीपिका में निम्न शब्दों में कहा है - “जो जीव सम्यक्त्व-चारित्रादि विशुद्धभावों रूप परिणामे, वहाँ एक-एक समय में असंख्यात-असंख्यात निषेक, उदय में आकर, बिना फल दिये ही प्रदेश उदय होकर खिरते हैं, उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।”

इस परिभाषा के कारण यह तो सिद्ध हो ही गया कि कर्म, फल दिये बिना भी जीव से अलग होता है - निर्जरित होता है। प्रत्येक बद्धकर्म का फल उसरूप से ही भोगना, जीव को अनिवार्य नहीं है।

१०. प्रश्न :- कर्म का उदय आयेगा तो वह तो फल देगा ही देगा। फल दिये बिना कर्म जाता है ह्व यह विषय हमारे मानस को स्वीकार नहीं हो रहा है। हमें शास्त्राधार से स्पष्ट समझाइए?

उत्तर :- पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका का ऊपर का उद्धरण शास्त्र का ही तो दिया है।

११. प्रश्न :- भावदीपिका से भी प्राचीन ग्रंथ या आचार्य के कथन को बताइए तो अधिक अच्छा रहेगा?

उत्तर :- गृहस्थ विद्वान द्वारा रचित शास्त्र की प्रामाणिकता में कुछ कमी देखना और आचार्य कृत शास्त्र की प्रामाणिकता में कुछ विशेषता मानना, उचित नहीं लगता; तथापि आपने प्रश्न किया है तो उत्तर देने का प्रयास करते हैं। आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार शास्त्र में गाथा ४५ की संस्कृत टीका में स्पष्ट लिखा है -

द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणामति तदा बंधो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बंधो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् सर्वदैव बंध एव न मोक्ष इति अभिप्रायः।

अर्थ :- द्रव्य-मोह का उदय होने पर भी यदि शुद्धात्मभावना के बल से भाव-मोहरूप (उपयोगरूप से परिणामन) नहीं करता तो बन्ध नहीं होता। यदि पुनः कर्मोदय मात्र से बंध होता तो संसारियों के सदैव कर्म के उदय की विद्यमानता होने से सदैव-सर्वदा बंध ही होगा, कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा - यह अभिप्राय है।

१२. प्रश्न :- पूछने में संकोच तो हो रहा है तो भी पूछ ही लेते हैं - आचार्य जयसेन से भी प्राचीन आचार्य का हम कथन चाहते हैं?

उत्तर :- तत्त्वनिर्णय के लिए पूछने में संकोच करने की क्या आवश्यकता है? आचार्य समंतभद्र ने तो १८०० वर्ष पूर्व आप्तमीमांसा ग्रन्थ में भगवान की भी परीक्षा की है। आचार्य विद्यानन्द ने तो आप्त परीक्षा नाम का शास्त्र ही लिखा है; अतः प्रश्न करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्रंथाधिराज समयसार की मूलगाथा १७३ में लिखा है - “सम्यग्दृष्टि के समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय (द्रव्यास्रव) सत्तारूप में विद्यमान हैं, वे उपयोग (ज्ञान-दर्शन) के प्रयोगानुसार कर्मभाव के द्वारा (रागादि के द्वारा) नवीन बंध करते हैं।”

आगे आचार्य कुन्दकुन्द ने ही गाथा १७४ से १७६ में उदाहरण देकर इसी विषय को अधिक स्पष्ट किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने संस्कृत टीका में भी इसी विषय को और अधिक स्पष्ट किया है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भी भावार्थ में इसके मर्म को स्पष्ट किया है। श्री छाबड़ाजी के भावार्थ का अंश -

“द्रव्यास्रवों के उदय में युक्त हुये बिना जीव के भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिये बन्ध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव, जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिसप्रकार उसे भावास्रव हो;

उसीप्रकार द्रव्यास्रव, नवीन बन्ध के कारण होते हैं।

यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बन्ध नहीं होता।”

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत समयसार शास्त्र की ज्ञायकभाव प्रबोधिनी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा दिये गये स्पष्टीकरण को निम्न शब्दों में बताया है -

“जिसप्रकार तत्काल की विवाहिता बाल-स्त्री-अनुपभोग्य है, भोगने-योग्य नहीं; किन्तु वही पहले की परिणीता बाल-स्त्री यथासमय यौवनावस्था को प्राप्त होने पर उपभोग्य हो जाती है; भोगने-योग्य हो जाती है। वह यौवनावस्था को प्राप्त युवती स्त्री, जिसप्रकार उपभोग्य हो, तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बंधन में डालती है; वश में करती है।

उसीप्रकार पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय, पूर्व में सत्तावस्था में होने से अनुपभोग्य थे; किन्तु जब विपाक अवस्था में, उदय में आने पर उपभोग के योग्य होते हैं, तब उपयोग के प्रयोगानुसार अर्थात् जिसरूप में उपभोग्य हों, तदनुसार कर्मोदय के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव के कारण ही बंधन करते हैं; इसलिए यदि ज्ञानी के पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं, तो भले रहें; तथापि वह ज्ञानी निरास्रव ही है; क्योंकि कर्मोदय का कार्य जो राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव है, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बंध के कारण नहीं हैं।”

डॉ. भारिल्ल ही आचार्य अमृतचन्द्र के इसी विषय को और भी अधिक स्पष्ट कर रहे हैं -

“यहाँ उदाहरण में तत्काल की विवाहिता बाल-स्त्री ली है। यद्यपि लोक में कानूनी और सामाजिक दृष्टि से विवाहिता स्त्री को उसके पति द्वारा भोगने-योग्य माना जाता है; तथापि यदि वह विवाहिता स्त्री बालिका हो, कच्ची उम्र की हो तो विवाहिता होने पर भी बाल्यावस्था के कारण भोगने योग्य नहीं होती; किन्तु जब वही विवाहिता

बालिका, जवान हो जाती है तो सहज ही पुरुष (पति) के द्वारा भोगने-योग्य हो जाती है। इस उदाहरण के माध्यम से आचार्यदेव यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि स्वयं के द्वारा पूर्व में बाँधे गये और जो अभी सत्ता में विद्यमान हैं; वे कर्म जीव के द्वारा अभी बालिका स्त्री के समान भोगने-योग्य नहीं हैं; किन्तु जब उनका उदयकाल आयेगा, तब वे जवान स्त्री की भाँति भोगने-योग्य हो जायेंगे।

दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार पूर्व में विवाहिता वह बाल-स्त्री, जवान हो जाने पर भी पुरुष (पति) को पुरुष के रागभाव के कारण ही वश में करती है, बंधन में डालती है। यदि पुरुष (पति) के हृदय में रागभाव न हो, तो वह जवान स्त्री (पत्नी) भी उसे नहीं बाँध सकती; उसीप्रकार पूर्व में बद्ध कर्म, उदय में आने पर भी जीव को उसके रागभाव के कारण ही बंध के कारण बनते हैं। यदि जीव की पर्याय में रागभाव न हो तो मात्र द्रव्यकर्मों का उदय नवीन कर्मबंध करने में समर्थ नहीं होता।

यहाँ इसी बात पर विशेष वजन दिया गया है कि आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप भाव ही मूलतः बंध के कारण हैं। यदि मोह-राग-द्वेष न हो तो पूर्वबद्ध कर्म का उदय भी बंधन करने में समर्थ नहीं है। इसप्रकार न तो बंधावस्था को प्राप्त कर्म बंधन के कारण हैं; न सत्ता में पड़े हुए कर्म बंधन के कारण हैं और न रागादि के बिना उदय में आये कर्म बंधन के कारण हैं।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्म का बंध, सत्त्व और उदय जीव को बंधन में नहीं डालते, आगामी कर्मों का बन्ध नहीं करते; अपितु आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादिभाव ही कर्मबंध के मूलकारण हैं; अतः कर्मों के बंध, सत्त्व और उदय के विचार से आकुलित होने की आवश्यकता नहीं है।”

कर्म का उदय होने पर औदयिक भाव होता ही है, यह निमित्त की मुख्यता से कथन है। व्यवहार का कथन है। वास्तविक वस्तुस्वरूप

तो यह है कि जब जीव विकारभाव से परिणमित होता है, तब कर्म के निमित्त का व्यवहार होता है।

इसी विषय को आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश १७३ में भी कहा है। इसी कलश का भावानुवाद करते समय पण्डित बनारसीदासजी समयसार नाटक में निम्नानुसार लिखते हैं; उसे संक्षेप में अर्थ-सहित दे रहे हैं -

“तेई जीव परम दसा में थिररूप हूँकै।

धरम में धुके न करम सौं रुकत हैं ॥३२॥

भावार्थ - ऐसे जीव, निर्विकल्प निरुपाधि आत्मसमाधि को साधकर सगुण (सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र) मोक्षमार्ग में तेजी से बढ़ते हैं और परमदशा में स्थिर होकर धर्ममार्ग में तेजी से बढ़ते हुए मुक्ति को प्राप्त करते हैं; कर्मों के रोके रुकते नहीं हैं।”

अनेक स्थानों पर शुद्धोपयोग में - मुख्यतया जब श्रेणी पर मुनिराज आरूढ़ रहते हैं, उस समय के संबंध में कथन ऐसा भी आता है कि जो अबुद्धिपूर्वक विभाव भाव होता है, उसे कर्म के उदय का कार्य भी कहा जायेगा और कर्म ने कुछ फल दिया ही नहीं, ऐसा भी समझाया जाता है।

जब वर्तमान पर्याय के विभाव भाव की मुख्यता करते हैं तो उस विभाव भाव को कर्म के उदय का कार्य ही कहना उचित है।

कर्मबन्ध के समय जितना अनुभाग बंध हुआ था और जितना अनुभाग/फल मिलना चाहिए था, जब उतना फल मिलता हुआ देखने में नहीं आता तब तो कर्म का फल मिला ही नहीं, ऐसा भी कथन उचित ही है।

१. कर्म के उदयानुसार जीव को औदयिक भाव होते हैं। २. कर्म का उदय, औदयिक भाव को करता है। ३. कर्म, औदयिक भाव को उत्पन्न करता है। ४. कर्म का उदय, किसी भी जीव को नहीं छोड़ता। ५. कर्म, बहुत बलवान है। ६. कर्म के निमित्त से नैमित्तिकरूप औदयिक भाव

होते ही हैं। ७. कर्म के सामने किसी का कुछ नहीं चलता। ८. अनादिकाल से कर्म ही जीव को संसार में रुला रहा है - दुःख दे रहा है। इत्यादि सर्व कथन - जो जिनवाणी में हजारों स्थानों पर आये हैं, वे निमित्त की मुख्यता से उचित निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ही आये हैं।

एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता-धर्ता नहीं है। यह वीतरागी जिनधर्म का प्राण है।

द्रव्यानुयोग में यहाँ तक कथन आता है कि द्रव्य और गुणों से भी पर्याय नहीं होती। पर्याय अपने षट्कारकों से अपने काल में अपनी स्वयं की पर्यायगत योग्यता से होती है।

द्रव्य अपने कारण से द्रव्य है। गुण अपने कारण से गुणरूप है। द्रव्य के कारण गुण और गुण के कारण से द्रव्य, यह भी व्यवहार कथन है। इस यथार्थ वस्तु-व्यवस्था को जब जीव स्वीकार करता है, तब 'कर्म जीव को हैरान करता है' - यह कथन मात्र उपचरित व्यवहारनय का कथन है, ऐसा पक्का निर्णय होता है।

करणानुयोग की कथन-शैली निमित्त की मुख्यता से होती है। प्रथमानुयोग एवं चरणानुयोग में भी निमित्त को ही महत्त्व दिया जाता है। इतना ही नहीं उपादान की मुख्यता से प्रतिपादन करने वाले द्रव्यानुयोग में भी निमित्तपरक कथन कुछ कम नहीं हैं; इसलिए पात्र जीव को तो उपादान के कथन की मुख्यता से कहने वाले विषय को प्रधान/मुख्य करके यथार्थ तत्त्वनिर्णय करना आवश्यक है।

निमित्त है, कर्म है, कर्म को उपचार से बलवान भी कहा गया है; लेकिन परमार्थ से कर्म बलवान नहीं है, जीव ही बलवान है।^१

पंचास्तिकाय शास्त्र की अनेक गाथाओं का अर्थ यहाँ उपयोगी होने से दे रहे हैं -

१. इस संबंध में लेखक की गुणस्थान-विवेचन पुस्तक का पृष्ठ २६२ से २६५ को देखना उपयोगी रहेगा।

कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को कर्ता है। वैसा जीव भी कर्मस्वभाव भाव से (औदयिकादि भाव से) बराबर अपने को करता है।^१

लोक (विश्व), सर्वतः विविध प्रकार के अनन्तानन्त सूक्ष्म तथा बादर पुद्गल कार्यों (पुद्गल स्कंधों) द्वारा विशिष्ट रीति से अवगाहित, (गाढ भरा) हुआ है।^२

आत्मा अपने भाव (मोह-राग-द्वेषरूप) को करता है; (तब) वहाँ रहने वाले पुद्गल, अपने भावों से जीव में (विशिष्ट प्रकार से) अन्योऽन्य अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।^३

जिसप्रकार पुद्गल द्रव्यों की अनेक प्रकार की स्कंध रचना, पर से किए गए बिना होती दिखवाई देती है; उसीप्रकार कर्मों की बहु प्रकारता पर से अकृत जानो।^४

प्रवचनसार ग्रन्थ का ज्ञेयाधिकार, वस्तुव्यवस्था का ज्ञान करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की स्वतंत्रता का उद्घोष है।

आप कहोगे कि धार्मिक होने पर तो कर्म, फल दिये बिना जा सकते हैं। हाँ, हम इतना ही चाहते हैं कि कर्म किसी को भी कभी ना कभी फल दिये बिना जा सकते हैं।

इससे यह तो स्पष्ट हो ही गया कि जीव, बलशाली है। जीव, अपने आप बदलता है तो कर्मों में भी बदलाव हो ही जाता है। यह तो धर्म (सम्यक्त्व + चारित्र) धारण करने के बाद की चर्चा हुई।

मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि यह जीव के धार्मिक न होने पर भी कर्म अपनी सामर्थ्य के अनुसार जीव को फल देने में समर्थ नहीं है। यह कथन दृढ़ता से कहा जा सकता है।

१३. प्रश्न :- आप यह शास्त्र के विरुद्ध कैसी बात कर रहे हो? यह उचित नहीं है। आप अपने इस कथन को शास्त्र के आधार से सिद्ध कर सकते हो क्या?

१. पंचास्तिकाय, गाथा-६२,

२. वही, गाथा-६३

३. वही, गाथा-६५,

४. वही, गाथा-६६

उत्तर :- आपका भाव/अभिप्राय सही है। हम शास्त्र के आधार से कहेंगे तो मानोगे ना? भाई! हम भी शास्त्र के विपरीत बोलने से डरते ही हैं। वास्तविकरूप से सोचा जाय तो शास्त्र के विपरीत कहने का अर्थ देव तथा गुरु का विरोध करना है।

इस काल में तो शास्त्र से ही देव-गुरु का परिचय प्राप्त होता है; इसलिए सहज संयोग से कहो अथवा बुद्धिपूर्वक कहो देव-शास्त्र-गुरु ऐसा ही क्रम शास्त्र को स्वीकार है।

कर्म, स्वभाव से अपने सामर्थ्य के अनुसार फल देने में असमर्थ है, यह विषय स्पष्ट करना है; इसलिए हमें शास्त्र में कर्म की क्षयोपशम की जो परिभाषा आयी है, उसे समझना चाहिए, जो इसप्रकार है -

“वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, भविष्य में उदय आने योग्य, उन्हीं सर्वघाति स्पर्धकों का सद्वस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय - इन तीन रूप कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं।”

यहाँ विचार करते हैं कि हमें या आपको वर्तमान काल में कितने ज्ञान हैं? तो सहज ही सामान्य आगम/शास्त्र का अध्ययन करनेवाला कहेगा - “मतिज्ञान, श्रुतज्ञान दो ज्ञान हैं।” (अभी कुमति-सुमति को गौण करके सामान्य बात करते हैं।)

फिर यह सोचेंगे कि किस कर्म की किस प्रकार की अवस्था के कारण मतिज्ञान-श्रुतज्ञान हैं? तो उत्तर यह रहेगा कि मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से हमें मतिज्ञान है तथा श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान है। (यहाँ वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी स्वीकृत है)

१४. फिर हम स्वयं से ही प्रश्न पूछते हैं कि ऊपर लिखित परिभाषा के अनुसार अभी हमारे वर्तमान में मतिज्ञानावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों की दशा कैसी है? तो उत्तर होगा, उनका तो उदयाभावी क्षय है।

फिर प्रश्न होता है कि यदि मतिज्ञानावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय आ जाय तो क्या होगा?

बोलिए, भाईसाहब! बोलिए ! यदि सर्वघाति स्पर्धकों का उदय आ जाय तो मतिज्ञान का पूर्ण अभाव होगा, जिस कारण जीव जड़ हो जायेगा।

फिर हम सहजता से ही पूछेंगे - मतिज्ञानावरण के किस स्पर्धक का वर्तमान काल में उदय है? उत्तर यह होगा कि मतिज्ञानावरण के देशघाति स्पर्धकों का उदय है।

१५. प्रश्न :- मतिज्ञानावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय अर्थात् सर्वघाति रूप से उदय में नहीं आना, यह कार्य किस कारण से और कब से हो रहा है?

उत्तर :- अनादिकाल से कर्मों का ऐसा ही स्वभाव शास्त्र में कहा गया है।

१६. प्रश्न :- आप जैसा बता रहे हो, ऐसा अर्थ किसी विद्वान ने हमें नहीं बताया?

उत्तर :- आपको स्वयं समझने का पुरुषार्थ करना चाहिए। अन्य लोगों ने नहीं सुनाया; ऐसी शिकायत न करें।

कोई भी विद्वान अपनी मति-कल्पना से शास्त्र का अर्थ चाहे जैसा क्यों करेगा? आचार्यश्री पूज्यपाद महाराज ने सर्वार्थसिद्धि नामक शास्त्र में तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के ५वें सूत्र की टीका में लिखा है - “सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघाति-स्पर्धकानामुदये क्षयोपशमिको भावो भवति।” इसका अर्थ ऊपर परिभाषा में दिया है।

१७. प्रश्न :- जैसा आपने बताया वैसा क्षयोपशम कितने कर्मों में होता है?

उत्तर :- ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय में तो ऐसा क्षयोपशम प्रत्येक संसारी जीवों के अनादि से हैं तथा मोक्षमार्गी होने पर मोहनीय में भी होता है। इस प्रकार चारों घातिया कर्मों में क्षयोपशम होता है।

१८. प्रश्न :- अभी हमें अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान नहीं है तो उनके संबंध में आवरण कर्मों का क्या स्वरूप है?

उत्तर :- अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण - ये दोनों कर्म स्वभाव से तो देशघाति ही हैं; किन्तु उनमें देशघाति और सर्वघाति दोनों स्पर्धक होते हैं; तथापि उन देशघाति कर्मों के वर्तमान में होते हुए भी सर्वघाति स्पर्धकों का ही उदय होने से दोनों ज्ञानों का हमें अभाव ही है।

जिन मुनिराज को मनःपर्ययज्ञान होता है; उन्हें मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है। जिन मुनिराज अथवा मनुष्य या तिर्यच (देव-नारकीयों) को अवधिज्ञान होता है, उन्हें अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है।

जिन विषय का हमें ज्ञान नहीं, वहाँ सर्वघाति स्पर्धकों का उदय है। भविष्य में उन विषयों का ज्ञान (क्षयोपशम-क्षय होने पर) हो सकता है।

१९. प्रश्न :- अवधिज्ञानावरण तथा मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म स्वभाव से देशघाति कर्म हैं तो इनमें क्षयोपशम कैसे घटित होगा? तथा क्षयोपशम की परिभाषा में सर्वघाति स्पर्धकों की क्या भूमिका होती है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर :- आपको शंका होना स्वाभाविक है। इस विषय संबंधी जिनवाणी का कथन इस प्रकार है -

केवलज्ञानावरण को छोड़कर चारों ज्ञानावरण कर्म देशघाति हैं। मात्र एक केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाति है।

चारों ज्ञानावरण कर्म देशघाति होने पर भी इन चारों ज्ञानावरण कर्मों में स्पर्धक दो प्रकार के हैं - १. सर्वघाति स्पर्धक और २. देशघाति स्पर्धक।

इसप्रकार मतिज्ञानावरणादि चारों आवरण कर्म, स्वभाव से देशघाति होने पर भी इनमें दो प्रकार के स्पर्धक (देशघाति-सर्वघाति स्पर्धक) होने से क्षयोपशम घटित होता है। जैसे मतिज्ञानावरणादि चारों घाति कर्मों के वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, भविष्य काल में उदय आने-योग्य सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्था-रूप उपशम एवं वर्तमानकाल में देशघाति स्पर्धकों का उदय - इन तीन रूप कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं।

इसप्रकार का क्षयोपशमरूप कार्य चारों ज्ञानावरण कर्म में होता है (अनेक प्रकार की अनुभाग शक्ति से युक्त कर्मों के समूह को स्पर्धक कहते हैं)।

प्रारंभ के चार ज्ञानावरण कर्म स्वभाव से देशघाति होने पर भी इन चारों ज्ञानावरणों में सर्वघाति एवं देशघाति स्पर्धक हैं, यह विषय भी हमें ज्ञात होना चाहिए। जिनमें सर्वघाति एवं देशघाति स्पर्धक होते हैं, उनमें ही कर्म की क्षयोपशमरूप अवस्था बन सकती है; अन्य स्थान पर नहीं।

२०. प्रश्न :- किसी को मतिज्ञानावरण एवं श्रुतज्ञानावरण के वर्तमान-कालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदय ही रहेगा तो क्या होगा?

उत्तर :- यदि दोनों ज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय ही रहेगा तो ज्ञान का सर्वथा अभाव ही होगा अर्थात् जीव, जड़ हो जायेगा।

किसी भी जीव को दोनों (मतिज्ञानावरण व श्रुतज्ञानावरण) ज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय हो, ऐसा नहीं होता।

अति अल्प मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के धारक लब्ध अपर्याप्तक निगोदिया जीवों को भी इन दोनों ज्ञानावरणों का क्षयोपशम ही रहता है।

कर्म में जितनी मात्रा में शक्ति है, उतनी मात्रा में उदय में आकर फल देने का कार्य नहीं होता।

२१. प्रश्न :- कर्म में जितनी घातक शक्ति है, उतनी शक्ति व्यक्त नहीं होती, यह विषय घाति कर्मों में तो लागू हो सकता है; लेकिन अघाति कर्मों में कैसे लागू होता है?

उत्तर :- अघातिकर्मों में क्षयोपशम नहीं होता है। अघाति कर्म तो बाह्य संयोग में निमित्त हैं। उनके निमित्त के अनुसार जिन पदार्थों का संयोग-वियोग होता है, वह होता रहेगा; उससे जीव को कुछ लाभ-हानि नहीं है।

जीव तो बाह्य सभी द्रव्यों का एवं उनकी पर्यायों का तो सर्वथा अकर्ता ही है अर्थात् मात्र ज्ञाता ही है।

२२. प्रश्न :- उदयकरण नहीं मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेगी?

उत्तर :- (१) जिनेन्द्र-कथित आगम में जीव के पाँच भाव स्वतत्त्व कहे हैं। उनमें चौथे क्रमांक का औदयिकभाव, जीव का एक स्वतत्त्व है; उसका अभाव मानना पड़ेगा। औदयिकभाव में कारण, उदयकरण है।

(२) प्रत्यक्ष को नहीं मानने का प्रसंग उपस्थित होगा; क्योंकि क्रोधादि औदयिक भाव होते हैं, यह देखने में एवं वेदन में भी आते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष को न मानने का अक्षम्य अपराध होगा।

(३) उदयरूप करण को सभी स्वीकार करेंगे तो ही उदयकरण का अस्तित्व रहेगा; ऐसा तो स्वरूप नहीं है।

उदयकरण तो अपने कारण से अनादिकाल से है। उसका कार्य दुनिया में सर्वत्र बड़े पैमाने पर देखने को मिल रहा है।

कोई विशेष क्रोधादि कषाय करते हुए दुनियाँ में प्रसिद्धि को भी प्राप्त होते हैं। कोई अत्यन्त मंदकषायरूप जीवन बिताते हुए भी निन्दा को प्राप्त देखने में आते हैं। यह सब कार्य उदयकरण की ही हीनाधिकता के कारण होते हैं।

(४) तीव्र कषायी जीव, नरक में जाते हैं। मंदकषायी जीव, स्वर्ग में जाते हैं और जो जीव अपने ज्ञानानन्दस्वभावी निजात्मा में रमन करते हैं, वे मोक्ष में जाते हैं; इसको सिद्ध करने वाली अनेक कहानियाँ प्रथमानुयोग में पाई जाती हैं। इन कहानियों से भी औदयिक परिणामों का निर्णय होता है; इसलिए उदयकरण मानना चाहिए।

(५) उदयकरण को न मानने पर चतुर्गति एवं ८४ लाख योनियों में अनादि से परिभ्रमणरूप यह संसार ही सिद्ध नहीं होगा। जो संसार (मोह, राग, द्वेषरूप दुखद अवस्था) सभी के अनुभव में आ रहा है।

(६) दुःखरूप संसार सिद्ध नहीं होगा तो मुक्त अवस्था भी कहाँ से सिद्ध होगी?

(७) अरहन्त अवस्था में मूक केवली, उपसर्ग केवली, छोटी-बड़ी अवगाहना, वर्णादि में भेद, आयु में हीनाधिकता आदि उदयकरण से ही सिद्ध होते हैं।

उदयकरण नहीं मानने से इसप्रकार सर्वज्ञ कथित आगम में विरोध आता है।

२३. प्रश्न : क्या उदय के अन्य प्रकार से भी भेद हैं?

उत्तर - हाँ, हैं। दो भेद हैं - स्वमुख-उदय, परमुख-उदय।

२४. प्रश्न : स्वमुख उदय किसे कहते हैं?

उत्तर : विवक्षित प्रकृति का स्व रूप से ही उदय होना स्वमुख से उदय है। जैसे - आयुर्कर्म आदि सभी मूल प्रकृतियों का उदय।

२५. प्रश्न : परमुख उदय किसे कहते हैं? उदाहरण-सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : परस्पर संक्रमण-योग्य प्रकृतियों में स्तिबुक संक्रमण आदि पूर्वक उनका उदय होना परमुख से उदय है। जैसे - तिर्यचादि गति-नामकर्म प्रकृतियों का मनुष्य आदि गति-नामकर्मरूप से उदय।

२६. प्रश्न : कर्म के उदयकरण का उपयोग किसी ग्रन्थकर्ता आचार्य ने किसी शास्त्र में अध्यात्म-पोषण के लिए अर्थात् आत्मा के अकर्तापन को सिद्ध करने के लिए भी किया है क्या?

उत्तर : हाँ, आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने ही ग्रन्थाधिराज समयसार शास्त्र के बंधाधिकार में अनेक स्थान पर उदयकरण का अध्यात्म-पोषण के लिये अत्यन्त सफलता पूर्वक उपयोग किया है।

समयसार शास्त्र के टीकाकार आचार्य श्री अमृतचन्द्र एवं आचार्य श्री जयसेन ने भी अपनी संस्कृत टीका आत्मख्याति एवं तात्पर्यवृत्ति में उसी को स्पष्ट किया है - उसका ही समर्थन किया है।

सब गाथाएँ एवं पूर्ण टीका का उद्धरण देना यहाँ उपयुक्त नहीं है, अतः हम यहाँ मात्र गाथाओं का हिन्दी अर्थ ही दे रहे हैं; जिससे शंका का समाधान हो जायेगा।

“जीव, आयुर्कर्म के उदय से जीता है - ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तू परजीवों को आयुर्कर्म तो देता नहीं है; फिर तूने उनको जीवन कैसे दिया?”^१

जीव, आयुर्कर्म के उदय से जीता है - ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। परन्तु अन्य जीव तुझे आयुर्कर्म तो देते नहीं है; फिर उन्होंने तेरा जीवन कैसे किया?”^२

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और तू उन्हें कर्म तो देता नहीं है; तो तूने उन्हें सुखी-दुःखी कैसे किया?”^३

यदि सभी जीव, कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे दुःखी कैसे किया?”^१

यदि सभी जीव, कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया?”^२

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने मात्र दो ही कलश काव्य में इस विषय को अत्यन्त स्पष्ट किया है; जिनका अनुवाद इसप्रकार है -

“इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दुःख व सुख सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होते हैं। कोई दूसरा पुरुष, किसी दूसरे पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दुःख को करता है - ऐसी मान्यता अज्ञान है।

इस अज्ञान के कारण जो पुरुष, एक पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दुःख को दूसरे पुरुष के द्वारा किये हुए मानते हैं, जानते हैं; पर कर्तृत्व के इच्छुक वे पुरुष, अहंकार से भरे हुए हैं और आत्मघाती मिथ्यादृष्टि हैं।”^३

इस तरह और भी अनेक आचार्यों ने उदयकरण का उपयोग अध्यात्म के पोषण के लिए किया है।

उदयकरण के संबंध में ब्र. जिनेन्द्र वर्णीजी के कथन को विषय समझने के लिए विशेष उपयोगी होने से यहाँ दे रहे हैं ह

“निष्कर्ष यह है कि प्रतिसमय एक समयप्रबद्ध कर्म बँधता है और एक ही समयप्रबद्ध उदय में आता है। एक समय में बँधा हुआ द्रव्य अनेक समयों में उदय में आता है। तथैव (उसही) एक समय में उदय में आने वाला द्रव्य, अनेक समयों में बँधा हुआ होता है। इससे यह भी

१. समयसार, गाथा-२५५

२. वही, गाथा-२५६

३. समयसार, कलश - १६८, १६९

सिद्ध होता है कि वर्तमान एक समय में प्राप्त, जो सुख-दुःख आदिरूप फल है, वह किसी एक समय में बँधी हुये विवक्षित कर्म का फल नहीं कहा जा सकता; बल्कि संख्यातीत काल में बँधी अनेक कर्मों का मिश्रित एक रस होता है। फिर भी उस एक रस में मुख्यता उसी निषेक की होती है, जिसका अनुभाग सर्वाधिक होता है।^१”

बंध और उदय की समानता-असमानता कहाँ-कहाँ हैं -

“जैसा कर्म का बंध हुआ है तदनुसार वैसा का वैसा अर्थात् बन्ध के अनुसार डिग्री टु डिग्री उदय नहीं होता। जैसा कर्म बँधा है, वैसा का वैसा ही उदय में आए, ऐसा प्रायः होता नहीं है; क्योंकि बन्ध और उदय के बीच में सत्ता की एक बहुत चौड़ी और बड़ी खाई है, जिसमें प्रतिक्षण कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं।

सत्ता में रहते हुए उस बद्ध कर्म को अनेक परिवर्तनों में से गुजरना पड़ता है।

बन्ध और उदय की पूर्वोक्त व्याप्ति सुनकर आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक को घबराना नहीं चाहिए। शेष सात करणों में से उद्वर्तन (उत्कर्षण), अपवर्तन, संक्रमण, उदीरणा और उपशमन, ये पाँच करण उसकी सहायता के लिए हरदम तैयार हैं।

उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा और उपशमन ही वस्तुतः ऐसी परिवर्तनीय अवस्थायें (करण) हैं; जिनमें से सत्तागत कर्मों को गुजरना पड़ता है। अगर साधक, लक्ष्य की दिशा में डटकर परिवर्तन के लिए कटिबद्ध हो जाए तो कर्मों की निर्जरा और क्षय होते देर नहीं लगेगी।^२”

इसप्रकार उदयकरण के माध्यम से जीव ही बलवान है, कर्म नहीं; इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और उदयकरण का स्वरूप भी स्पष्ट किया।

१. कर्मसिद्धान्त, पृष्ठ-९६, ९७ का भाव।

२. वही, पृष्ठ-९३

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब यहाँ उदय करण के विषय को समझने के लिए पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल कृत भावदीपिका शास्त्र के चूलिका अधिकार का उदय करण का पूर्ण भाग दिया है।

कर्म की उदय करण अवस्था कहते हैं -

“जहाँ कर्म अपनी स्थिति पूरी कर, फल देकर खिरने के सन्मुख हो, उसे उदय कहते हैं। वह उदय भी चार प्रकार का है - प्रदेश उदय, प्रकृति उदय, स्थिति उदय और अनुभाग उदय।

(१) वहाँ भी जीव के परिणामों का निमित्त पाकर फल देकर या बिना फल दिये ही कर्म परमाणुओं का खिर जाना, उसे प्रदेश उदय कहते हैं।

(२) मूल से कर्म प्रकृतियों का खिर जाना, उसे प्रकृति उदय जानना।

(३) स्थिति का क्षीण हो जाना, उसे स्थिति उदय कहते हैं।

(४) जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टरूप अपना-अपना रस देकर खिर जाना, उसे अनुभाग उदय जानना।

एक-एक समय में एक-एक निषेक अपना-अपना फल देकर उदय को प्राप्त होता है और फल देकर खिर जाता है, उसी को सविपाक निर्जरा कहते हैं।

जो जीव सम्यक्त्व-चारित्रादि विशुद्धभावों रूप परिणामे, वहाँ एक-एक समय में असंख्यात-असंख्यात निषेकों का उदय आकर बिना फल दिये ही प्रदेश उदय होकर खिरते हैं, उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

असंख्यात-असंख्यात समयप्रबद्ध का बंधा हुआ द्रव्य, एक-एक निषेक में इकट्ठा होकर उदय में आता है। उस निषेक में सर्व ही शुभ-अशुभ कर्मों का सत्त्व है; परन्तु जीव के गत्यादि भावों के अनुसार मुख्यता, गौणता लिये शुभाशुभ कर्मों का उदय होता है।

जो जीव नरकगति में रहता है; वहाँ नरकगति भाव को प्रारंभ कर नरकगति संबंधी अति संक्लेशमय सर्व भावोंरूप आत्मा परिणमता है। वहाँ असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की तो मुख्यता है और सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों की अत्यन्त गौणता है।

जो जीव देवगति में है; वहाँ देवगतिभाव को प्रारम्भ कर देवगति संबंधी मंदकषायादि रूप सभी भावों से युक्त होता है; वहाँ सातावेदनीय आदि शुभकर्मों के उदय की मुख्यता है तथा असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की अत्यन्त गौणता है।

जो जीव तिर्यचगति में है, वहाँ तिर्यचगतिभाव से प्रारंभ कर तिर्यच सम्बन्धी सभी भावरूप परिणमता है, वहाँ अधिक काल तक तो असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की मुख्यता है और थोड़े काल तक किसी समय किंचित् अनुभाग वाले सातावेदनीय आदि शुभकर्मों के उदय की मुख्यता होती है।

जो जीव मनुष्यगति में है, वहाँ मनुष्यगतिरूप भाव से प्रारम्भ कर मनुष्यगति संबंधी सभी भावोंरूप परिणमता है। वहाँ उदय को प्राप्त हुए जो निषेक, उनमें अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक हो तो असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की मुख्यता रहती है, अशुभ कर्मों का उदय होता है और शुभकर्मों का प्रदेश उदय होता है।

यदि उदयरूप निषेक में शुभकर्मों का अनुभाग अधिक हो तो सातावेदनीय आदि शुभकर्मों के उदय की मुख्यता होती है अर्थात्

शुभकर्मों का उदय होता है और असातावेदनीय आदि अघातिया के अशुभ कर्मों का प्रदेश उदय होता है तब ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का यथायोग्य उदय होता है।

शुभलेश्यादि विशुद्ध भावों रूप परिणमित जीव के सातावेदनीय आदि शुभकर्मों के उदय की मुख्यता भी होती है या असातावेदनीय आदि अशुभकर्मों की भी अनुभाग के अत्यन्त जोर से मुख्यता हो तो कुछ अनुभाग क्षीण होकर उदय को प्राप्त होते हैं और सातावेदनीय आदि शुभकर्मों का अनुभाग अधिक होकर उदय को प्राप्त होता है।

तथा कदाचित् अत्यन्त विशुद्धभावरूप परिणमता है तो उस जीव के असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों का सातावेदनीय आदि शुभकर्मोंरूप परिणमन हो जाता है अथवा प्रदेश उदय होकर खिर जाता है।

कृष्णादि अशुभ लेश्यादि अशुभ भावोंरूप परिणमते हुए जीव के असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय की मुख्यता हो या सातावेदनीय आदि शुभकर्मों की भी अनुभाग के अत्यन्त जोर की मुख्यता हो तो कुछ अनुभाग क्षीण होकर उदय को प्राप्त होते हैं और असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होकर उदय को प्राप्त होते हैं।

कदाचित् अत्यन्त संक्लेश भावरूप परिणमते हुए जीव के सातावेदनीय आदि का अशुभकर्मोंरूप होकर उदय आता है अथवा प्रदेश उदय आकर खिर जाते हैं, ऐसी अनेक प्रकार कर्मों की उदय अवस्था भी जीवभावों का निमित्त पाकर होती है।”

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :- उदय किसे कहते हैं?

उत्तर :- स्थिति पूरी होने पर कर्म के फल देने को उदय कहते हैं।

२. प्रश्न :- उदय के कितने भेद हैं?

उत्तर :- चार भेद हैं - १. प्रकृति उदय २. प्रदेश उदय ३. स्थिति उदय और ४. अनुभाग उदय।

(१) मूल प्रकृति अथवा उत्तर प्रकृति का उदय आना, प्रकृति उदय है। (२) उदयरूप प्रकृति के परमाणुओं का फलोन्मुख होना, प्रदेश उदय है। (३) स्थिति का उदय होना, स्थिति उदय है और (४) अनुभाग का उदय होना, अनुभाग उदय है।

३. प्रश्न :- कर्मों की उदय योग्य प्रकृतियाँ कितनी हैं?

उत्तर :- ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की, क्रम से ज्ञानावरण कर्म की ५ + दर्शनावरण कर्म की ९ + वेदनीय कर्म की २ + मोहनीय कर्म की २८ + आयुर्कर्म की ४ + नामकर्म की ६७ + गोत्रकर्म की २ + अंतराय कर्म की ५ = १२२ प्रकृतियाँ उदय-योग्य होती हैं।

४. प्रश्न : उदय करण का स्वरूप क्या है?

उत्तर : (१) कर्म अपने फलदानकाल में 'उदय' संज्ञा को प्राप्त होता है।

(२) जीव को फल देने रूप अवस्था विशेष से युक्त कर्म स्कन्ध 'उदय' इस संज्ञा से व्यवहृत होता है।

(३) जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षणादि प्रयोग-बिना स्थिति क्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं, उन कर्मस्कन्धों की 'उदय' यह संज्ञा है।^१

(४) यथाकाल उत्पन्न हुए कर्म के विपाक का नाम 'कर्मोदय' है।

(५) कर्मोदय का नाम 'उदय' है।^२

(६) कर्मफल का वेदन उदय कहलाता है।

(७) कर्मों का अपना काल आने पर फल देनेरूप होकर खिरने को सन्मुख होना, सो 'उदय' है। लब्धिसार; पीठिका (फूलचन्द्रजी)

(८) एक समय में एक उदययोग्य निषेक ही उदय में आता है; अतः उस उदीयमान निषेक के उदय में आकर फल देने पर सत्तारूप स्थिति में से एक समय घटता है; अतः एक समय मात्र स्थिति का उदय प्रति समय आता है; यह सामान्य कथन है।

(९) कर्मोदय के समय में ही अनुभाग का उदय होना, अनुभाग-उदय है।

(१०) प्रत्येक समय में उदय आने-योग्य परमाणुओं में अर्थात् एक स्थिति निषेक में अनुभाग सम्बन्धी अविभाग प्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणाएँ व स्पर्धक सभी होते हैं।

(११) कर्मोदय के समय में उदीयमान एक निषेक में जितने परमाणुओं का उदय होता है, उसे प्रदेश उदय कहते हैं।

५. प्रश्न : उदय का कार्य क्या है?

उत्तर : (१) यह प्राणी रूपवान हो या ना हो, परन्तु जब लोगों को प्यारा लगता है तो समझना चाहिए कि उसके सुभग नामकर्म का उदय है।

(२) असाता वेदनीय कर्म का तीव्र उदय व उदीरणा होने पर जीव को नियम से भूख लगती है।^१

(३) भुक्त (खाये गये) अन्नपान को पचाने का कारण, तैजसशरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न तैजसशरीर भी है।^२

(४) साधु आदि के लिए योग्य दानादि देने में बाधा आने पर समझना चाहिए कि उस समय जीव के दानान्तराय कर्म का उदय है।

१. धवला, पुस्तक-६, पृष्ठ- २१३

२. जय धवला, पुस्तक-१०, पृष्ठ- ६

१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा-१३५

२. धवला, पुस्तक-१४, पृष्ठ- ३२८

- (५) बाह्य कारणों के होते हुए लोभ कषाय के तीव्र उदय से (एवं उदीरणा से) जीव को परिग्रह की इच्छा उत्पन्न होती है।
- (६) यदि कोई जीव दुःखी है तो निश्चित है कि उसके असाता वेदनीय कर्म का उदय है।
- (७) सुख (इन्द्रियसुख) का अनुभव (मोह का उदय होने पर ही) साता वेदनीय कर्म के उदय में ही सम्भव है।

६. प्रश्न : उदय सम्बन्धी नियम स्पष्ट करें?

उत्तर - (१) कुल १४८ कर्मप्रकृतियों में से १२२ कर्मप्रकृति उदय-योग्य होती हैं। यह बात अभेद-विवक्षा की है, भेद-विवक्षा की अपेक्षा तो १४८ कर्मप्रकृतियाँ ही उदय-योग्य हैं।

(२) सकल प्रकृतियों में से २६ ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ हैं - ५ ज्ञानावरण की, ४ दर्शनावरण की (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण), ५ अन्तराय की तथा १२ नामकर्म की प्रकृतियाँ (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, निर्माण, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर, तैजस व कार्मण।)

(३) मूल प्रकृतियों का तो स्वमुख से ही उदय होता है।

(४) उत्तर प्रकृतियों का स्वमुख तथा परमुख से भी उदय सम्भव है।

(५) विवक्षित सर्वघाति के उदय के साथ उसी के देशघाति का उदय बन जाता है; लेकिन सर्वथा देशघाति के उदय के साथ सर्वघाति का उदय नहीं बनता। उदाहरण हास्यादि नौ नोकषायें।

(६) एक जीव के एक भव में एक ही गति, एक ही आनुपूर्वी तथा एक ही आयु का उदय सम्भव है। ऐसी और भी कई प्रकृतियाँ हैं। जैसे - जाति, शरीर, अंगोपांग इत्यादि।

- (७) उच्च गोत्र का उदय मनुष्य और देवों के ही सम्भव है।
- (८) स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओं का उदय नर-तिर्यच के ही सम्भव है, अन्य के नहीं।
- (९) मिथ्यात्व का उदय मिथ्यात्वी के ही होता है। मिथ्यात्व का वेदन सभी मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।^१
- (१०) सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्मिथ्यात्वी के ही होता है। इसका वेदन प्रत्येक सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव करता है।
- (११) सम्यक्त्व प्रकृति का उदय ४ से ७ गुणस्थान तक ही सम्भव है।
- (१२) इस सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन, प्रत्येक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव करता है। (गुणस्थान ४, ५, ६, ७)
- (१३) ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण व ५ अन्तराय-इन १४ प्रकृतियों के वेदक सभी छद्मस्थ जीव होते हैं।
- (१४) केवली के असातावेदनीय का भी उदय होता है, पर वह फलदायी नहीं होता; क्योंकि उनके मोह परिणाम और मोहकर्म का उदय नहीं है।
- (१५) केवली के असाता के उदय के काल में सुखोत्पादक साता भी नियम से उदय को प्राप्त होती है।
- (१६) छद्मस्थ जीवों के साता व असाता युगपत् उदय में नहीं आ सकते, ऐसा नियम है।
- (१७) अपनी-अपनी गति में अपनी-अपनी आयु का उदय सम्भव है, अन्य का नहीं। यह बात सभी आयु वालों के लिए समझनी चाहिए।
- (१८) देवों में उच्चगोत्र का ही उदय होता है, चाहे भवनत्रिक या किल्विषिक अथवा आभियोग्य जाति के देव ही क्यों न हों।
- (१९) नारकियों व तिर्यचों में चाहे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव हो, सभी के नीच गोत्र का ही उदय होता है।

- (२०) नरक में पुरुषवेद व स्त्रीवेद का उदय नहीं होता।
- (२१) किसी भी भाववेद वाले के तीर्थकर प्रकृति का उदय नहीं होता।
- (२२) तीर्थकर नामकर्म का उदय, सर्वज्ञ आत्माओं के ही सम्भव है।
- (२३) तीर्थकर नामकर्म का उदय, तेरहवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय तक रहता है।
- (२४) एक कषाय के उदय के समय, अन्य कषाय का उदय नहीं होता।
- (२५) जिस जीव के अनन्तानुबन्धी क्रोध का उदय है, उसके उस क्रोध के उदयकाल में अन्य तीन प्रकार के क्रोधों (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध तथा संज्वलन क्रोध) का उदय है। अनन्तानुबन्धी आदि लोभ, मान, माया का नहीं है।
- (२६) परिहार विशुद्धिसंयम में अप्रशस्तवेद (स्त्रीवेद व नपुंसकवेद) तथा आहारकद्विक/आहारक शरीर व आहारक अंगोपांग का उदय नहीं होता।
- (२७) धनवान मनुष्य भी अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा सुखी नहीं रह सकते; क्योंकि असाता की उदीरणा का उत्कृष्ट अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त है।
७. प्रश्न : गुणस्थानानुसार उदयव्युच्छित्ति का कथन कीजिए?
- उत्तर : (१) मिथ्यात्व का उदय मिथ्यात्व गुणस्थान के बाद आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।
- (२) अनन्तानुबन्धी ४ का उदय सासादन के बाद आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।
- (३) मिश्र प्रकृति का उदय मिश्र (तृतीय) गुणस्थान में ही होता है, उसके बाद नहीं।
- (४) अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।
- (५) प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय पाँचवें से आगे प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में नहीं होता।
- (६) आहारक शरीर, आहारक शरीर-अंगोपांग का उदय छठे गुणस्थान में ही होता है, आगे नहीं।

- (७) सम्यक्त्व प्रकृति का उदय सातवें गुणस्थान के बाद नहीं होता।
- (८) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा - इन ६ कर्मों का उदय आठवें गुणस्थान के बाद नहीं होता।
- (९) तीन वेद, संज्वलन क्रोध, मान व माया कषायों का उदय नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में नहीं होता।
- (१०) सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभ का उदय दसवें सूक्ष्मलोभसाम्पराय-गुणस्थान में ही होता है, आगे नहीं।
- (११) ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय तथा निद्रा, प्रचला का उदय, बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के बाद नहीं रहता।
- (१२) जहाँ जिस प्रकृति का उदय होता है, वहीं उसका उदय करण कहलाता है।
- (१३) जीव को फल, केवल 'उदय करण' देता है।
८. प्रश्न : उदय का कथन अधिक मात्रा में क्यों है?
- उत्तर :- (१) दस करणों में जीव को उदयागत कर्म ही फल देता है।
- (२) दुनिया में कर्मोदय की चर्चा बहुत है।
- (३) जीव को विकार, कर्मोदय के निमित्त से होता है।
- (४) बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों का मिलना सहजता से होता है।
- (५) उदय के बिना कर्म की चर्चा, व्यर्थ है।
- (६) संसारी जीव को कर्मोदय में रस है।
- (७) उदयावली, उदय के बिना अन्य सकल करणों के लिए अयोग्य है।
- (८) उदयावली में मात्र स्वमुख या परमुख से उदय ही सम्भव है तथा नियत काल तक उसका सत्त्व भी है।
- (९) वर्तमान समय से लेकर एक आवली मात्र काल में उदय आने योग्य निषेकों को उदयावली कहते हैं।

अधिकार पाँचवाँ

उदीरणा

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

‘उदीरणा करण’ विषय का विचार करते समय मेरे मन में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते गये; उनका उत्तर देने का मैंने यथाशक्ति प्रयास किया है।

१. प्रश्न :- यदि कर्मों में उदीरणा करण हम नहीं मानेंगे तो क्या बिगड़ेगा?

उत्तर :- आप अपनी ओर से कुछ भी मानने, न मानने के लिए स्वतंत्र हो। अपने को जिनागम तथा जिनेन्द्र भगवान का श्रद्धावान कहते-मानते हुए यह बात नहीं हो सकती।

जिनेन्द्र भगवान की अश्रद्धा से गृहीत मिथ्यात्व होगा और भी स्पष्ट और सूक्ष्मता से कहना हो तो ७० कोडाकोडी सागर का मिथ्यात्व कर्म का नया स्थिति और अनुभाग का बंध होगा।

हाँ, परीक्षा करके सत्य को स्वीकार करने की भावना से मन में प्रश्न उत्पन्न होते हैं तो स्वागत-योग्य हैं। परीक्षा तो करनी ही चाहिए।

कर्म के उदीरणा का कार्य समझदार, शास्त्राभ्यासी एवं चतुर मनुष्य को अनुमान से भी समझ में आ सकता है।

२. प्रश्न :- उदीरणा का कार्य अनुमान से कैसे समझ में आता है?

उत्तर :- उदीरणा, उदय के बिना नहीं हो सकती अतः कर्म के उदीरणा का विषय समझाने के पहले ही कर्म का उदय अर्थात् कर्मफल है, यह

संक्षेप में समझाने का प्रयास करते हैं - इसके पश्चात् उदीरणा की चर्चा करेंगे।

(१) हम दुनियाँ में करोड़ों-अरबों आदमियों को देखते हैं। उनमें ज्ञान तथा बाह्य वैभव की अपेक्षा भेद, देखते-जानते हैं। करोड़ों आदमियों को छोड़ दो, सगे अथवा जुड़वा भाई हों तो उनमें भी ज्ञान, शरीर का रूप आदि में नियम से भेद स्पष्ट जानने में आता है। इससे भी हमें, जीवों को कर्म का बंध है, कर्म का उदय है, कर्मोदय से जीवों को अनुकूल-प्रतिकूल फल प्राप्त होते हैं - ये सर्व विषय, समझ में आ सकते हैं। दुनियाँ में ऐसा कोई कर्ता-धर्ता भगवान तो है नहीं, जो ऐसा भेद-भाव करने/रखने का काम करेगा।

(२) बचपन में जो अज्ञानी एवं दरिद्री रहता है, वह बालक युवा अवस्था में ज्ञानी व धनवान हो सकता है; युवा अवस्था में ज्ञानी व धनवान रहनेवाला वृद्धावस्था में पागल एवं दरिद्री हो सकता है। ये सब परिवर्तन (कार्य) कर्म के उदय होने पर होते हैं।

(३) सामान्य आदमी भी यह स्वीकार करता है कि दुनियाँ में पाप एवं पुण्य कर्म हैं तथा पाप एवं पुण्य कर्म का फल जीवों को - मनुष्य, पशु आदि सबको मिलता ही रहता है।

(४) यदि मनुष्य में पाप एवं पुण्य का फल नहीं होता तो एक मनुष्य मालिक बन जाता है और दूसरा उसका नौकर होकर रहता है - ऐसा क्यों? एक आदमी के लिए जन्म से ही दवाई खाना अनिवार्य होता है और दूसरे का जन्म से मरण तक दवाई के साथ कुछ संबंध ही नहीं आता - ये सब प्रत्यक्ष देखने को मिलता है।

(५) इन दिनों में पशुओं का - उनमें भी विशेष रूप से कुत्ते का भी पुण्योदय स्पष्ट समझ में आता है। मैडम कुत्ते को सँभालती है और मैडम के पुत्र को नौकरानी। जागरूकता से दुनियाँ को देखेंगे - जानेंगे तो सब समझ में आता है।

इस तरह हमने यह जाना कि दुनियाँ में पाप है, पाप का फल है, जो

जीव को मिलता है। पुण्य है और पुण्य का फल भी प्रायः सभी लोग भोगते हैं। इस तरह कर्म के उदय को हमने जानने का प्रयास किया।

अब कर्म की उदीरणा के संबंध में चर्चा करेंगे - सही देखा जाय तो उदीरणा भी एक प्रकार से उदय ही है। भेद मात्र इतना ही है -

(१) जो कर्म, यथाकाल फल देता है; उसे उदय कहते हैं और जो कर्म अयथाकाल अर्थात् उदयकाल के पहले फल देता है, उसे उदीरणा कहते हैं।

(२) विवक्षित कर्म, उदयरूप से फल न देकर उदीरणारूप से ही फल देंगे। ऐसा नियम कर्म बँधते समय ही नियत होता है।

(३) सामान्यरूप से सोचा जाय/जिनवाणी के आधार से विचार किया जाय तो कर्म के उदय के साथ-साथ जीव के भावों के निमित्त से कर्मों की उदीरणा भी हीनाधिक मात्रा में चलती ही रहती है।

३. प्रश्न :- उदीरणा कब स्पष्ट रूप से समझ में आती है?

उत्तर :- जब क्रोधादि कषायों में अथवा हास्यादि नोकषायों में अति-अति तीव्रता कदाचित् स्वयं को अनुभव में आती है अथवा दुनियाँ को भी यह स्पष्ट देखने में आती है, तब समझना चाहिए कि इसे कषाय या नोकषाय के उदय के साथ-साथ कर्म की तीव्र उदीरणा भी हो रही है।

४. प्रश्न :- अभी स्पष्ट नहीं हुआ, उदाहरण से समझाओगे तो अच्छा रहेगा?

उत्तर :- क्रोधादि कषायों का उद्रेक होता रहे और बीच में समझाने के लिए माँ, पिताजी, दादाजी, नानाजी अथवा कोई पूज्य पुरुष भी आवें तो भी कषाय, शांत न हो; कषाय भड़कती रहे। बड़े पुरुषों का अपमान करने में भी संकोच न हो तो समझना चाहिए कि कषाय की उदीरणा हो रही है। विषय समझाने के लिए यह स्थूल दृष्टान्त है।

झगड़े के कारण माँ, पिताजी आदि की हत्या करने में भी यह कषायी जीव पीछे नहीं रहता। इस तरह के कार्य कषायों के तीव्र उदय/उदीरणा में ही संभव हैं।

उदय तथा सामान्य उदीरणा में कषाय का सामान्य कार्य चलता है, जो अज्ञानी मनुष्य के जीवन में सहजरूप से होता रहता है।

५. प्रश्न :- नोकषाय के विशेष उदीरणा का क्या कोई दृष्टान्त भी हो सकता है? स्पष्ट करें।

उत्तर :- स्वर्ग के देवों में ६ महीने तक लगातार हँसते रहने का कार्य हास्य नोकषाय के तीव्र उदय/उदीरणा का उदाहरण समझना चाहिए।

पुरुषवेद अथवा स्त्रीवेद के तीव्र उदीरणा के काल में पुरुष अथवा स्त्री की अपनी जाति, धर्म, बड़े पुरुषों की आज्ञा, सभ्य समाज की सामान्य सदाचार की प्रवृत्तियाँ - इन सबका त्याग करने की प्रवृत्ति को वेद नोकषाय की तीव्र उदीरणा ही समझना चाहिए।

बाल-स्त्री के साथ संबंध बनाने का भाव अथवा अयोग्य जाति, पशु आदि से भोग साधने का प्रयास - ये सभी परिणाम, वेद कषाय के तीव्र उदय/उदीरणा के कार्य समझ लेना चाहिए।

६. प्रश्न :- आपने पिछले प्रश्न के उत्तर में कहा 'उदय के साथ उदीरणा हो रही है' और ऊपर के प्रश्न के उत्तर में 'उदय/उदीरणा का कार्य' लिखा है, यहाँ मात्र उदीरणा क्यों नहीं कहते?

उत्तर :- मात्र कर्म की उदीरणा हो रही है, ऐसा कभी नहीं होता। उदीरणा हमेशा उदय के साथ ही होती है। जब क्रोध कषाय का उदय चालू रहेगा, तब उसी समय क्रोध कषाय की उदीरणा होगी।

कभी ऐसा नहीं होगा कि उदय तो चल रहा है क्रोध कषाय का और मान कषाय की उदीरणा हो रही है।

जिस कषाय-नोकषाय का उदय रहेगा उसकी ही उदीरणा हो सकती है - ऐसा सामान्यतया समझना चाहिए। क्रोध के उदय के समय क्रोध की ही उदीरणा होगी। मान के उदय के समय मान की।

७. प्रश्न :- आपने तो उदीरणा, कषाय-नोकषाय पर ही घटित करके दिखायी। मोहनीय कर्म को छोड़कर अन्य घातिकर्मों की भी उदीरणा होती है या नहीं होती; स्पष्ट करें।

उत्तर :- आठों कर्मों में उदय के साथ उदीरणा होती है, समझाने में आसानी रहे; इसलिए कषाय-नोकषायों पर ही (मोहनीय में भी चारित्र

मोहनीय पर भी) घटित करके बताया है।

८. प्रश्न :- वेदनीय कर्म पर उदीरणा घटित करके बताइए?

उत्तर :- वेदनीय कर्म तो जीव को सुख-दुख के वेदन में निमित्त कारण है।

जब साता वेदनीय (पुद्गल विपाकी) का उदय हो तो अनायास-सहज ही अनेक अनुकूल पदार्थों का संयोग होता है।

इसीप्रकार असाता-वेदनीय पर घटित कर लीजिए। तथा जीव-विपाकी साता-असाता वेदनीय पर भी घटित कर लेना चाहिए।

९. प्रश्न :- उदीरणा करण को समझने से क्या लाभ है?

उत्तर :- (१) उदीरणा करण का स्वरूप समझने से उदीरणा के संबंध में अपने अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान होता है, आनन्द होता है।

(२) किसी भी जीव के अनुकूल या प्रतिकूल कर्म की उदीरणा कभी भी हो सकती है - ऐसा जानकर वर्तमानकालीन संयोगों और संयोगी भावों के प्रति एकत्व-ममत्व का भाव नष्ट होता है अथवा उनमें मंदता आती ही है अर्थात् कषायें मंद होती हैं।

(३) अघाति कर्मों के निमित्त से प्राप्त अनुकूल संयोगों में अपनापन कम होता है अथवा भूमिका के अनुसार नष्ट भी हो सकता है।

(४) पात्र जीवों को 'मैं भगवान आत्मा' संयोग एवं संयोगी-भावों से भिन्न हूँ - ऐसी प्रतीति की अनुकूलता बनती है।

(५) विश्व के अनेक जीवों के विभिन्न प्रकार की उदीरणाजन्य अवस्थाओं को देखकर वैराग्य/विरक्ति उत्पन्न होती है।

यदि पहले से ही वैराग्य/विरक्ति हो तो उदीरणा को समझने से उसकी वृद्धि होती है। इसप्रकार और भी अनेक लाभ हैं।

१०. प्रश्न :- यदि उदीरणा करण नहीं होता तो क्या होता?

उत्तर :- (१) यदि उदीरणा करण नहीं होता तो साधक को कर्मों की (गुणश्रेणी) निर्जरा नहीं होती।

वैसे देखा जाये तो अति कषायवान अथवा अभव्य जीव को भी उदीरणा तो होती ही रहती है; तथापि उनके लिए वह मोक्ष का कारण नहीं बनती।

(२) यदि उदीरणा करण न हो तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद फिर से मिथ्यात्व आदि होने का भी काम नहीं हो सकता; क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय द्वितीय स्थिति में मिथ्यात्व आदि की सत्ता रहती है, उस सत्ता में से मिथ्यात्व आदि की उदीरणा होने के (निमित्त) कारण सम्यग्दृष्टि जीव पुनः मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी हो जाता है।

अतः उदीरणा न मानने पर दूसरा, तीसरा गुणस्थान एवं क्षयोपशम सम्यक्त्व भी नहीं बनेगा।

(३) यदि उदीरणा करण नहीं होता तो ग्यारहवें गुणस्थान से जीव के नीचे के गुणस्थानों में गिरने का कार्य भी नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ द्वितीय स्थितिरूप सत्ता में पड़े हुए चारित्रमोहनीय की उदीरणा होने के कारण ही मुनिराज दसवें आदि गुणस्थानों में आते हैं।

पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री (बनारस) ने उदीरणा का स्वरूप निम्नप्रकार समझाया है -

“जैसे - आम बेचने वाले सोचते हैं कि वृक्ष पर तो आम समय आने पर ही पकेंगे। इसलिए वे उन्हें जल्दी पकाने के लिए आम के पेड़ में लगे हुए कच्चे, हरे आमों को ही तोड़ लेते हैं और उन्हें भूसे, पाल (पुलाव) आदि में दबा देते हैं, जिससे वे जल्दी ही पक जाते हैं।

इसी प्रकार जिन कर्मों का परिपक्व (उदय) काल न होने पर भी उन्हें खींच कर उदय में लाया जाता है; अर्थात् समता, शमता, क्षमा, परीषहजय, उपसर्गसहन, तपश्चर्या, प्रायश्चित्त आदि द्वारा उन्हें (उन पूर्वबद्ध कर्मों को) उदय में आने से पूर्व ही भोग लिया जाता है, उदयावली में नियत समय से पूर्व ही आता है; उसे उदीरणा कहते हैं।”

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब आगे उदीरणा करण समझने के लिए पण्डित दीपचन्द्रजी कासलीवाल कृत भावदीपिका का उदीरणा करण का समग्र विषय दे रहे हैं। दस करणों में से पण्डितजी ने उदीरणा करण को समझाने के लिए अधिक विस्तार के साथ लिखा है।

इस प्रकरण में बीच-बीच में जो हैडिंग दिये हैं, उतना ही हमने अपनी ओर से जोड़ा है। मूल विषय को यथावत् दिया है।

कर्मों की उदीरणा करण अवस्था को कहते हैं -

ऊपर के निषेकों का कर्मस्वरूप पुद्गलद्रव्य, उदयावली में आकर प्राप्त होता है; उसे उदीरणा कहते हैं।

जो कर्म, अधिक समय की स्थिति वाला होकर, निषेकरूप सत्ता में पड़ा था, वह जीव के भावों का निमित्त पाकर उदयरूप निषेक से आवली प्रमाण (स्थिति वाला) निषेक (रूप हुआ), उनको उदयावली कहते हैं, उसमें (उदयावली में) आकर प्राप्त हो आवलीकाल पर्यंत उदयरूप होते हैं, उसे उदीरणा कहते हैं।

उन कर्मों की उदीरणा-योग्य जीव के भाव दो प्रकार के हैं -

एक तो अंतरंग तीव्र-मंद अनुभाग को लिये मोहादि कर्मों का उदय हो, उसके अनुसार तीव्र-मंद कषायादि भाव होते हैं, निमित्त होने पर कर्मों की उदीरणा होती है।

उसके एक बाह्य कर्मों की उदीरणा-योग्य परद्रव्यरूप सामग्री का मिलना और उसका निमित्त पाकर उसी के अनुसार उदीरणा- योग्य जीव के कषायभाव होना तो कर्मों की उदीरणा होती है।

वहाँ तीव्र अनुभाग को लिये हुए मोहादि (मोह) कर्मों का उदय हो, तब आत्मा का तीव्रकषाय रूप संक्लेश भाव होता है। (कर्म की

उदीरणा भी स्वयोग्यता से व स्वकाल में ही होती है। निमित्त से होती है, यह कथन व्यवहार का है; निश्चयनय का नहीं।

जब आत्मा कृष्णादि अशुभ लेश्यादि अशुभ भावों रूप प्रवर्तता है, तब सातावेदनीय आदि शुभकर्म का उदय मिट जाता है और असातावेदनीय आदि अशुभकर्म की उदीरणा होती है।

जब जैसे दुःख के कारणरूप पदार्थों का अवलंबन करता है, तब जीव सुखी से दुःखी हो जाता है, रागी से द्वेषी हो जाता है, द्वेषी से रागी हो जाता है, ज्ञानी से अज्ञानी हो जाता है, संयमी से असंयमी हो जाता है।

क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी से अन्य-अन्य क्रोधादि कषाय रूप हो जाता है। प्रसन्नता से शोकाकुल हो जाता है, रतिभाव से अरतिभाव को प्राप्त हो जाता है, अवेदभाव से सवेदभाव को प्राप्त हो जाता है, क्षुधा-तृषादि-रहित भाव से क्षुधा-तृषादि-सहित भाव को प्राप्त होता है - इत्यादि उदीरणा होने से कर्मों के पलटना व भावों का भी पलटना एकसाथ स्वयं हो जाता है।

भावों के बदलने से कर्म भी बदल जाते हैं, ऐसा कर्मों के उदय का और जीव के भावों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

तथा जहाँ मन्द अनुभाग को लिये मोहादि कर्मों का उदय हो, तब आत्मा के मन्दकषायरूप विशुद्धभाव होते हैं; तब आत्मा शुक्लादि शुभ लेश्यादि शुभ भावों रूप परिणामता है, तब असाता-वेदनीय आदि अशुभकर्म का उदय नष्ट हो जाता है और सातावेदनीय आदि शुभकर्मों की उदीरणा हो उदय होता है।

जैसे ही सुख के कारण रूप पदार्थों का अवलंबन करता है, तब जीव दुःखी से सुखी होता है, रागी से विरागी, अज्ञानी से ज्ञानी, असंयमी से संयमी हो जाता है। क्रोधादि अन्य कषायरूप हो जाता है। शोकभाव मिटकर हर्षभाव रूप हो जाता है, अरतिभाव से रतिभाव, सवेदभाव से अवेदभाव, क्षुधा-तृषादि-सहित भाव से रहित भाव को प्राप्त होता है। उदीरणा होते ही उक्त सभी भाव बदल जाते हैं।

इसप्रकार तो अंतरंग में शुभ-अशुभकर्म का उदय होने पर शुभ-अशुभ भाव होते हैं, उन्हीं के अनुसार शुभ-अशुभ कर्म की उदीरणा होती है।

जिस जीव के (जिस) कर्म की उदीरणा होकर उदय होता है, उसी के अनुकूल जीव का भाव होता है।

शुभाशुभ कर्म की उदीरणा के कारण ऐसे बाह्य शुभाशुभ पदार्थ का निमित्त पाकर शुभाशुभ कर्म की उदीरणा हो उदय होता है, उसी के अनुसार जीव का भाव होता है।

१) ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण की उदीरणा -

१. स्वयं ने शास्त्र पढ़े हैं या पढ़ाये हैं; उसका मद करने से, २. अन्य सम्यग्ज्ञानी पण्डितों से ईर्ष्या करने से ३. कुपथ को ग्रहण करने से ४. कुपथ का ग्रहण कर सम्यग्ज्ञानी से विवाद करने से ५. अन्य को कुपथ का ग्रहण कराने के लिए हठ करने से ६. जैन आमनाय के विरुद्ध उपदेश देने से ७. मिथ्या शास्त्र, काव्य, श्लोकादि बनाने से ८. शास्त्र को पढ़ाने वाले उपाध्याय का अविनय करने से ९. ज्ञान-चारित्र को ढकने या घात करने से १०. अपने विद्यागुरु को छिपाने से ११. यथार्थ को दोष लगाने से १२. मूर्खों की संगति से १३. अधिक विकथारूप प्रलाप करने से १४. अधिक विकथासक्त होने से १५. आलसी-प्रमादी होने से १६. अधिक क्रोध-लोभादि कषायों के अभिनिवेश से १७. अधिक हँसने से या रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि के अधिक अभिनिवेश से १८. बहुत कामासक्त होने से १९. बहुत आरम्भ करने से २०. कामोद्दीपक आहार करने से २१. अमलयुक्त/नशायुक्त वस्तु के खाने इत्यादि बाह्य कारणों से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होते हैं।

तत्काल ज्ञान का नाश होता है या इन्हीं पूर्वोक्त बाह्य कारणों से दर्शनावरण कर्म की उदीरणा होती है।

२) निद्रा आदि की उदीरणा -

१. इष्ट अर्थात् अभिप्रेत में उपयोग को जोड़ने से २. निद्रा की कारणरूप दही आदि वस्तुओं को खाने से ३. निद्रा की कारणरूप सुख-शय्यादि सामग्री मिलने से ४. निद्रा की इच्छा करके पैर पसारकर सो जाने से - पाँच निद्रा आदि दर्शनावरण कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होता है; तब सर्व पदार्थों संबंधी सामान्य अवलोकन का अभाव होता है।

३) असाता की उदीरणा -

१. दुःख-शोक के कारणरूप पदार्थों को देखने से, याद करने से २. दुःख-शोकादि के कारणरूप बाह्य पदार्थों का अपनी बुद्धिपूर्वक अपने से संबंध जोड़ने के निमित्त से असातावेदनीय कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त हो, तब जीव सुखी से दुःखी होता है।

४) साता की उदीरणा -

१. सुख के कारण इष्ट पदार्थों को देखने से २. हवादि करने से (पंखा आदि से) ३. साता के उदय में अपनी बुद्धिपूर्वक अपने सुख के कारणरूप पदार्थों का संबंध करने से ४. सुदेव-गुरु-धर्मादि से संबंध करने से; या स्मरण, ध्यान, चिंतवन, जाप आदि करने के निमित्त होने पर सातावेदनीय कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होता है, तब जीव दुःखी से सुखी होता है।

५) दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) की उदीरणा -

१. केवली देव-शास्त्र-गुरु, धर्म, चतुर्विध संघ और जीवादि तत्त्व-इनका स्वरूप जानने पर भी अन्यथा कहने से २. कुगुरु-कुदेव, कुधर्म के धारकों की सराहना करने इत्यादि से दर्शनमोह रूप मिथ्यात्वकर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होता है, तब यह जीव तत्काल सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

६) चारित्र मोहनीय की उदीरणा -

१. क्रोधादि तेरह कषाय (क्रोधादि चार व नौ नोकषाय के बाह्य कारणरूप पदार्थों को याद करने से, दृष्टि से देखने पर, वाचक (कहने रूप) संबंध करने से, तेरह प्रकार भेद को लिये चारित्रमोहनीय नामक कर्म, उसके उस-उस भेद के कारणरूप पदार्थों का संबंध करने से, उसको उस-उस भेद (रूप कर्म) की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होती है, वहाँ उसी भावरूप आत्मा परिणमता है।

२. क्रोध के कारण से अपने कार्य के बिगाड़ने वाले, अपने मानादि कषाय को भंग करने वाले, अपनी आज्ञा का लोप करने वाले इत्यादि अपने को दुःखदायक पदार्थों को याद करने से, दृष्टिगोचर होने से, संबंध करने से तत्काल क्रोध नामक चारित्रमोह की उदीरणा हो, उसी समय जीव क्रोधभाव को प्राप्त होता है।

वैसे ही ३. मान के कारणरूप पदार्थों के संबंध से मान की ४. माया के कारणरूप पदार्थों से माया की ५. लोभ के कारण धनादि इष्ट सामग्री के संबंधादि होने से लोभ की उदीरणा होती है।

७) हास्यादि नोकषाय की उदीरणा -

१. हास्य के कारण नकली बहुरूपियादि से २. रति के कारण इष्ट स्त्री-पुत्र या इष्ट भोजनादि, पाँचों ही इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयादि देखने-जानने से ३. अरति के कारण अनिष्ट स्त्री-पुत्रादि या अनिष्ट भोजनादि या पाँचों ही इन्द्रियों के अनिष्ट विषयादि देखने-जानने से हास्यादि की उदीरणा होती है।

४. शोक के कारणरूप पदार्थों से शोक की ५. भय के कारण रूप पदार्थों से भय की ६. ग्लानि के कारण दुर्गंधादि सूँघना, विष्टा आदि द्रव्य या - अप्रिय पदार्थों को देखने-जानने से जुगुप्सा की उदीरणा होती है।

७. रूपवान स्त्रियों को याद करने से, उनके दृष्टिगोचर होने से या मन को चलायमान करने वाले संबंध से पुरुषवेद की उदीरणा हो जाती है।

८. रूपवान, तरुण, वस्त्र-भूषणादि से युक्त पुरुष को देखने से स्त्रीवेद की तथा ९. स्त्री-पुरुष दोनों के संबंधादि से नपुंसकवेद की उदीरणा होती है।

इत्यादि जिस-जिस चारित्रमोह कर्म के उदय के कारणभूत पदार्थों का संबंधादि हो, उस ही कर्म की उदीरणा होकर उदय आता है, उसी के अनुसार जीव के भावों की उत्पत्ति होती है।

८) आयु कर्म की उदीरणा -

१. भोजन-पानी आदि न मिलने से २. रोगादि होने पर औषधादि प्रतिकारों के न मिलने से, अन्यथा मिलने से, अन्यथा क्रिया से ३. प्रकृतिविरुद्ध भोजन-पानादि से ४. विषादि खाने से ५. शस्त्रादि के घात से ६. जल-अग्नि आदि के संबंध से ७. इत्यादि घात के अनेक कारणभूत पदार्थों के संबंध होने से, दृष्टिगोचर होने से, स्मरण होने से आयु कर्म की उदीरणा होकर मरण को प्राप्त होता है।

इसलिए इन पदार्थों का संबंधादि होने या न होने से जीव के वैसे ही उदीरणा योग्य-भाव होते हैं। वहाँ आयुकर्म की उदीरणा होती है।

एवं जहाँ अनेक प्रकार घात के कारण मिलने पर या घात से ही जीव के आयुकर्म की उदीरणा होने-योग्य भाव न हों तो उदीरणा नहीं होती; तब अनेक घातादि होने पर भी मरण नहीं होता।

९) नाम-गोत्र कर्म की उदीरणा -

इसीप्रकार नामकर्म व गोत्रकर्म की उदीरणा के बाह्य कारण मिलते हैं, तब नामकर्म व गोत्रकर्म की उदीरणा होती है।

१०) अंतराय कर्म की उदीरणा -

अन्तराय कर्म की उदीरणा के बाह्य कारण मिलने से अंतरायकर्म की उदीरणा होती है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यरूप कार्य होते हुए भयादि के कारणभूत पदार्थों का निमित्त पाकर दान आदि पाँच

भावों से जीव के घृणायुक्त परिणाम होते हैं; तब उन भावों का निमित्त पाकर दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय – इन पाँच प्रकार अंतराय कर्म की उदीरणा होकर उदय को प्राप्त होते हैं। वहाँ दानादि कार्यों का अभाव होता है।

जिन दानांतराय आदि कर्मों की उदीरणा होकर उदय होता है, उन-उन दानादि कार्यों का ही अभाव होता है। जो सुख-दुःख के कारण बाह्य पदार्थ अबुद्धिपूर्वक (बिना प्रयत्न के) दुर्निवार अपने आप ही प्राप्त होते हैं, वहाँ तो अंतरायकर्म का जघन्य उदय जानना और जहाँ सुख-दुःख के कारणभूत पदार्थों का बुद्धिपूर्वक (प्रयत्नपूर्वक) संबंध होने से जो कार्य होता है, उसे उदीरणा होकर कर्म का उदय आया जानना।

इसलिए जैसा कर्म का उदय होता है, वैसे ही बाह्य पदार्थों का संबंध होता है। वह तो कर्म की स्थिति पूर्ण होकर कर्म का उदय आया जानना। जहाँ पहले बाह्य पदार्थों का निमित्त होने से कर्म का उदय हो, उसे कर्म की उदीरणा होकर उदय आया जानना।

जैसे – पहले पुरुषवेद का उदय होने से कामासक्त होकर स्त्री से संबंध करना, वह तो वेद के उदय से जानना। जो पहले ही स्त्री को देखकर विकारभाव होता है, उसे उदीरणा होकर वेद (कर्म) का उदय है। इसीप्रकार सब कर्मों की उदय-उदीरणा जानना।

तथा उदीरणा, उदय को प्राप्त कर्मों की होती है। जिस गति में जिन कर्मों का उदय पाया जाता है, उन्हीं कर्मों की उदीरणा होती है। जिन कर्मों का उदय नहीं पाया जाता, उन कर्मों की उदीरणा नहीं होती।

वेदनीय और आयु की उदीरणा तो छठे गुणस्थान पर्यन्त ही होती है। अन्य कर्मों की उदीरणा जहाँ तक अपना (उन-उन कर्मों का) उदय होता है, वहाँ तक ही होती है।

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न : उदीरणा करण का स्वरूप क्या है?
उत्तर : नहीं पके हुये कर्मों के पकाने का नाम उदीरणा है।^१
२. प्रश्न : उदय और उदीरणा में क्या अंतर है?
उत्तर : (१) उदय यथाकाल होता है तथा उदीरणा अयथाकाल।
(२) उदीरणा में भी उदयवत् फलदान की प्रधानता है। भेद यथाकाल, अयथाकाल का है।
(३) उदयकृत परिणामों की अपेक्षा उदीरणा से जो परिणाम होते हैं, उनमें अधिक तीव्रता होती है।
(४) जो महान स्थिति व अनुभाग में अवस्थित कर्मस्कंध-अपकर्षण करके फल देनेवाले किये जाते हैं, उन कर्मस्कन्धों की उदीरणा संज्ञा है।^२
(५) बंधावली के काल के बीतने पर अपकर्षण के द्वारा बद्ध द्रव्य को उदयावली में दिया जाता है, उस कर्मद्रव्य की उदीरणा संज्ञा है।
३. प्रश्न : उदीरणा के कितने भेद हैं?
उत्तर : उदीरणा के चार भेद हैं –
(१) कर्म के प्रकृति की उदीरणा को प्रकृति उदीरणा कहते हैं।
(२) कर्म के प्रदेशों की उदीरणा को प्रदेश उदीरणा कहते हैं।
(३) कर्म की स्थिति की उदीरणा को स्थिति उदीरणा कहते हैं।
(४) कर्मानुभाग की उदीरणा को अनुभाग उदीरणा कहते हैं।
कर्मबंध होने के पश्चात् कर्मस्कन्ध, आवली कालतक तो उदीरणा आदि के अयोग्य होने से तदवस्थ रहता है।

१. धवला, पुस्तक-१५, पृष्ठ-४३

२. धवला, पुस्तक-६, पृष्ठ-२१४

उदय-उदीरणा संबंधी विशेष

- (१) जहाँ-जहाँ जिस-जिस प्रकृति का उदय होता है, वहाँ-वहाँ उस-उस प्रकृति की उदीरणा हो सकती है, अन्यत्र नहीं।
- (२) साता, असाता व मनुष्यायु; इन तीन का उदय तो चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक सम्भव है; परन्तु इनकी उदीरणा छठवें गुणस्थान तक ही होती है।
- (३) ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण व ५ अन्तराय - इन १४ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है; परन्तु उदीरणा, चरम समय से एक आवली पूर्व तक होती है; बाद में नहीं। बारहवें गुणस्थान में मात्र आवली काल शेष रह जाने पर उदीरणा नहीं होती।
- (४) स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओं का इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने तक उदय होता है, उस पर्याप्ति पूर्णता के काल में उदीरणा नहीं होती है।
- (५) अन्तरकरण क्रिया के बाद प्रथम स्थिति में एक आवली शेष रहने पर उपशम सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं।
- (६) दसवें गुणस्थान में अन्तिम आवली काल के शेष रहने पर संज्वलन लोभ का उदयमात्र होता है, उदीरणा नहीं।
- (७) उदयावली के बाहर के निषेकों को उदयावली के निषेकों में मिलाना अर्थात् जिस कर्म का उदयकाल नहीं आया, उस कर्म को उदय काल में ले आने का नाम उदीरणा है।
- (८) मरण समय के अन्तिम आवली काल में अपनी-अपनी आयु का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं।
- (९) क्षीणकषाय के काल में दो समयाधिक आवली शेष रहने तक निद्रा-प्रचला का उदय और उदीरणा दोनों होते हैं।

४. प्रश्न : उदीरणा के बारे में कुछ विशेष स्पष्ट करें -

उत्तर : (१) देवों के उत्पत्ति समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक

सातावेदनीय, हास्य एवं रति की नियम से उदीरणा होती है, आगे के लिए अनिवार्यता का नियम नहीं है।

इससे ज्ञात होता है कि देव उत्पत्तिकाल के प्रारम्भिक अन्तर्मुहूर्त में नियम से प्रसन्न व सुखी रहते हैं।

- (२) नारकियों में उत्पत्तिकाल से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक अरति, शोक व असाता की नियम से उदीरणा होती है। इससे ज्ञात होता है कि नारकी नरक में उत्पन्न होने के प्रारम्भिक अन्तर्मुहूर्त में नियम से शोकमय व दुःखी होते हैं।
- (३) असाता, अरति व शोक का उदीरणा काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक ३३ सागर प्रमाण है। इससे ज्ञात होता है कि सातवीं पृथ्वी के नारकी जीव, पूर्ण आयु पर्यन्त दुःखी ही रहते हैं, एक पल भर भी अल्पसुखी भी नहीं रहते हैं।
- (४) पूर्ण आयु पर्यन्त निरन्तर साता के उदय से सुखी रहें, दुःखांश न हो, ऐसा एक भी देव नहीं है; कारण यह कि उनके सुख सुलभ है, दुःख दुर्लभ है। (यहाँ इन्द्रियसुख ही विवक्षित है)।
- (५) तीर्थंकर नामकर्म का उदीरणाकाल जघन्य से भी वर्षपृथक्त्व है। इससे ज्ञात होता है कि तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाले जीव तीर्थंकर बनकर कम-से-कम वर्षपृथक्त्व (३ से ९ वर्ष) तक तो तीर्थंकर के रूप में संसार में रहते ही हैं; तदनन्तर मोक्ष पाते हैं।
- (६) नरक में कदाचित् सब जीव साता के अनुदीरक हों, यह सम्भव है। (इससे ज्ञात होता है कि सकल पृथिवियों के समस्त नारकी जीव (सब के सब) एक साथ दुःखी हों, वह क्षण संभव है।)
- (७) नारकियों में साता का उदय व उदीरणा भी सम्भव है; मात्र एक के नहीं; युगपत् अनेक के भी; अतः नारकियों में भी सुख-लेश सम्भव है, यह निश्चित होता है।^१

१. धवला, पुस्तक-१५, पृष्ठ-७२ का भाव

अधिकार छठवाँ

उत्कर्षणहअपकर्षण

आगमाश्रित चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :- उत्कर्षण एवं अपकर्षण करण समझने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर :- उक्त दोनों करणों को जानकर हमें अनेक लाभ होते हैं, जो इसप्रकार हैं -

(१) उत्कर्षण एवं अपकर्षण करण को जानने से तत्संबंधी अज्ञान का नाश होता है तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है, यह तो सामान्य लाभ है।

(२) सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जो झलकता है, उसे जानने से सर्वज्ञ भगवान/सच्चे देव, सच्चे शास्त्र एवं सच्चे गुरु की विशेष महिमा आती है।

(३) दस करणों का प्रकरण सूक्ष्म होने से इन्हें जानने के कारण अपनी बुद्धि भी सूक्ष्म विषयों को जानने के लिए समर्थ होती है।

(४) पूर्वबद्ध कर्मों में स्थिति-अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है तथा स्थिति-अनुभाग का घटना अपकर्षण है - यह समझने से प्रत्येक जीव पूर्वबद्ध कर्मों के संयोग से सहित ही है; ऐसा ज्ञान होता है।

(५) पूर्वबद्ध कर्मों में परिवर्तन होने में निमित्तरूप जीव के शुद्धाशुद्ध परिणाम होते ही रहते हैं, ऐसा ज्ञान होता है।

(६) परिणामों में परिवर्तन होता रहता है - इसका अर्थ अपने परिणामों की अस्थिरता/चंचलता भी हमें समझ में आती है।

(७) परिणामों में सम्यक् परिवर्तन होने से ही जीव संसार से मुक्त अवस्था प्राप्त कर सकता है - ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होता है।

(८) परिणाम एवं कर्मों में प्रति समय फेरफार होते हुए भी परिणामों की क्रमबद्धता में बाधा नहीं आती। मैं तो स्वभाव से इन सभी शुभाशुभ तथा शुद्ध परिणामों से भी सर्वदा भिन्न टंकोत्कीर्ण स्वभावी हूँ - ऐसी प्रतीति बराबर बनी रहती है। अन्य जीव भी स्वभाव से अबद्धस्पृष्ट हैं - ऐसा ज्ञान होता है अर्थात् परिणामों से अपरिणामी का भान होता है। परिणामों को जानते हुए भी श्रद्धा में अपरिणामी तत्त्व साधक के जीवन में ऊर्ध्व रहता है, इसका पता चलता है।

(९) शुभाशुभ परिणामों से बँधे हुए पुण्य-पाप कर्मों का मैं मात्र ज्ञाता हूँ, यह भाव जागृत होता है। पुण्य-पाप कर्म में समभाव उत्पन्न होता है।

(१०) ज्ञेय बननेवाले जीवों के परिणामों के भी हम ज्ञाता रह सकते हैं; इसकारण समता भाव जागृत होता है।

(११) मात्र तात्कालिक औदयिक परिणामों से किसी भी जीव को अच्छा-बुरा समझना अपराध है; ऐसी यथार्थ जानकारी होती है।

(१२) जीव का परिणाम निमित्त है और पूर्वबद्ध कर्मों में उत्कर्षण एवं अपकर्षण होना नैमित्तिक कार्य है। इसतरह स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी ज्ञान होता है।

यहाँ जीव का परिणाम तो जीव का कार्य है और कर्मों में होनेवाला कार्य, कर्मों का है - दोनों अपने-अपने में स्वतंत्र हैं; तथापि दोनों में काल-प्रत्यासत्ति (काल की नजदीकता/समानता/एक ही समय) है;

इसकारण निमित्त-नैमित्तिक संबंध को स्वीकारना भी होता है।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध में स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता को स्वीकारना ही वास्तविक पुरुषार्थ है।

वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो कर्म का उत्कर्षण-अपकर्षण, कर्म (पुद्गल) की अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता से अपने-अपने काल में स्वयं से ही होता है। इस कर्म के उत्कर्षण-अपकर्षण रूप कार्य में जीव का अपनी ओर से कुछ कर्तव्य नहीं है।

२. प्रश्न :- उत्कर्षण-अपकर्षण नहीं मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेंगी ?

उत्तर :- जीव के परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्म में स्थिति-अनुभाग के बढ़ने का काम, उत्कर्षण से होता है और स्थिति, अनुभाग के घटने का काम, अपकर्षण से होता है। इन्हें नहीं मानने पर निम्न आपत्तियाँ होंगी -

(१) पुण्य एवं पाप परिणामों में परिवर्तन का काम तो हमेशा सर्व जीवों में होता ही रहता है। परिणामों के परिवर्तन में कभी पुण्यरूप परिणामों में विशेष वृद्धि होती है और कभी पापरूप परिणाम भी एकदम अधिक तीव्ररूप होते हैं। परिणाम में तीव्रता आवे और उसके निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों में कुछ भी परिवर्तन न हो, यह कैसे हो सकता है?

इसलिए कर्मों में उत्कर्षण-अपकर्षण होना, सहज ही बनता है। जो कार्य सहज ही बनता है, उसे न मानने से कैसे काम चलेगा?

(२) जिस प्रकार जीव के परिणामों के अनुसार कर्म में स्थिति एवं अनुभाग घटने-बढ़ने का काम सहज होता है; उसीप्रकार मनुष्य के जीवन में बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में आमूल-चूल परिवर्तन

भी होता रहता है; उसे भी स्वीकारना न्यायोचित है। जैसे कोई मनुष्य राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि पद पर हो, उस समय का उनका बाह्य परिकर और उस विशिष्ट पद का अभाव होने पर उनका बाह्य परिकर एक समान नहीं होता, यह परिवर्तन सबको सहज समझ में आता। ऐसा अत्यन्त विशेष परिवर्तन पूर्वबद्ध कर्मों के उत्कर्षण अथवा अपकर्षण के बिना कैसे होगा?

(३) गजकुमार को कुछ समय पहले तो ब्राह्मण-कन्या के साथ शादी करने के परिणाम हुए थे और बाद में मुनि-अवस्था का स्वीकार होना एवं मस्तक पर सिगड़ी जलने पर भी समता का परिणाम रहना - परिणामों में और परिकर में आमूलचूल परिवर्तन - इसमें यथायोग्य कर्म का निमित्तपना होना ही चाहिये।

(४) सुभौम चक्रवर्ती को चक्रवर्तित्व अवस्था में होनेवाले परिणाम, नरक में जाने के बाद होनेवाले परिणाम और परिकर में होनेवाला परिवर्तन-यह सब कर्म के निमित्त के बिना कैसे माना जा सकता है?

इसलिए पूर्वबद्ध कर्म में उत्कर्षण तथा अपकर्षण होता ही है; यह मानना आवश्यक है।

ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी ने उत्कर्षण-अपकर्षण के संबंध में स्पष्ट लिखा है, उसे दे रहे हैं -

“**उत्कर्षण-अपकर्षण का स्वरूप और कार्य -**

तात्पर्य यह है कि बन्ध के समय कषायों की तीव्रता-मन्दता आदि के अनुसार स्थिति और अनुभाग होते हैं। कर्म की बँधी हुई स्थिति और अनुभाग का किसी तीव्र अध्यवसाय विशेष के द्वारा बढ़ना, उत्कर्षण (उद्वर्तना) है, इसके विपरीत उत्कर्षण की विरोधी अवस्था, अपकर्षण है। सम्यग्दर्शनादि से पूर्व-संचित कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को क्षीण

कर देना अपकर्षण है। उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण एवं रस का तीव्रीकरण होता है, जबकि अपवर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थितिघात) और रस का मन्दीकरण (रसघात) होता है।

स्थिति का अपकर्षण हो जाने पर सत्ता में स्थित पूर्वबद्ध कर्म, अपने समय से पहले ही उदय में आकर झड़ जाते हैं तथा स्थिति का उत्कर्षण होने पर वे कर्म, अपने नियतकाल का उल्लंघन करके बहुत काल पश्चात् उदय में आते हैं।

अपकर्षण तथा उत्कर्षण के द्वारा जिन-जिन और जितने कर्मों की स्थिति में अन्तर पड़ता है, उन्हीं के उदयकाल में अन्तर पड़ता है। इनके अतिरिक्त जो अन्य कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। यह अन्तर भी कोई छोटा-मोटा नहीं होता, प्रत्युत एक क्षण में करोड़ों-अरबों वर्षों की स्थिति घट-बढ़ जाती है।

जिस प्रकार स्थिति का अपकर्षण-उत्कर्षण होता है, उसी प्रकार अनुभाग का भी होता है। विशेषता केवल इतनी ही है कि स्थिति के अपकर्षण-उत्कर्षण द्वारा कर्मों के उदयकाल में अन्तर पड़ता है, जबकि अनुभाग के उत्कर्षण-अपकर्षण द्वारा उनकी फलदान-शक्ति में अन्तर पड़ता है।

अपकर्षण द्वारा तीव्रतम शक्ति वाले कर्म, एक क्षण में मन्दतम हो जाते हैं, जबकि उत्कर्षण द्वारा मन्दतम शक्ति वाले संस्कार (कर्म) एक क्षण में तीव्रतम हो जाते हैं।^१”



१. कर्म रहस्य (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृष्ठ-१७२, १७३

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब आगे उत्कर्षण-अपकर्षण के संबंध में विशद जानकारी होवे; इस भावना से भावदीपिका शास्त्र का अंश दे रहे हैं।

कर्म की उत्कर्षण और अपकर्षण अवस्था को कहते हैं -

“जीव के भावों का निमित्त पाकर सत्ता में पड़े हुए जो ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म, उनकी स्थिति और अनुभाग का बढ़ जाना-अधिक हो जाना, उसे उत्कर्षण कहते हैं और उनका घट जाना-हीन हो जाना, उसे अपकर्षण कहते हैं।”

जब जीव, पीत-पद्म-शुक्ल लेश्यादि शुभभावोंरूप परिणमता है, तब सातावेदनीय आदि शुभप्रकृतियों का स्थिति और अनुभाग का बहुत उत्कर्षण हो जाता है और ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का और असातावेदनीय आदि अघातियारूप अशुभ प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग अपकर्षण से अल्प हो जाता है।

जब जीव कृष्ण लेश्यादि अशुभ भावोंरूप परिणमता है, तब ज्ञानावरणादि चार घातिया और असातावेदनीय आदि अघातियारूप अशुभ प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग, उत्कर्षण से बढ़ जाता है और सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का स्थिति-अनुभाग, अपकर्षण से अल्प रह जाता है।

नीचे के निषेकों में जघन्यादि अल्प स्थिति-अनुभाग लिये हुए थे, जो ज्ञानावरण आदि कर्मत्वरूप शक्ति को लिये हुए कर्मरूप पुद्गल,

उनकी स्थिति-अनुभाग बढ़कर ऊपर के निषेकों में उत्कृष्टादि स्थिति अनुभाग को लिये हुए हैं जो कर्म, उनके समान अधिक हो जाते हैं; उसे उत्कर्षण कहते हैं।

तथा ऊपर के निषेकों में उत्कृष्टादि अधिक स्थिति-अनुभाग लिये हुए जो कर्मस्वरूप पुद्गल, उनकी स्थिति-अनुभाग घट कर, नीचे के निषेकों में जघन्यादि स्थिति-अनुभाग-सहित जो कर्म थे, उनके समान हीन हो जाना, उसे अपकर्षण कहते हैं। ऐसा उत्कर्षण-अपकर्षण का स्वरूप जानना। ●

प्रश्न : बन्ध का नाश निश्चय-सम्यग्दर्शन से होता है या व्यवहार-सम्यग्दर्शन से?

उत्तर : जिसको निश्चय-सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उस जीव को व्यवहार-सम्यग्दर्शन में दोष (अतिचार) होने पर भी वह दोष दर्शनमोह के बन्ध का कारण नहीं होता; क्योंकि निश्चय-सम्यग्दर्शन के सद्भाव में मिथ्यात्व संबंधी बन्ध नहीं होता।

किसी जीव को व्यवहार-सम्यग्दर्शन तो बराबर हो, उसमें किंचित् भी अतिचार न लगने देता हो; परन्तु उसे निश्चय-सम्यग्दर्शन नहीं है तो मिथ्यात्व या मोह का बन्ध, बराबर होता रहता है।

व्यवहार-सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व को टालने में समर्थ नहीं है; अपितु निश्चय सम्यग्दर्शन ही मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होने देता; अतः यह सिद्धान्त निकला कि निश्चय सम्यक्त्व से बन्ध का नाश होता है, व्यवहार से नहीं।

- आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ-२८

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न : उत्कर्षण करण का स्वरूप क्या है?

उत्तर : (१) कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना उत्कर्षण है।

(२) नूतन कर्म के बंध के समय पूर्व कर्म की स्थिति में से कर्म परमाणुओं की स्थिति-अनुभाग बढ़ना उत्कर्षण है।

(३) जिन कर्म परमाणुओं की स्थिति कम है, उनकी स्थिति तत्काल बँधनेवाले कर्म के संबंध से बढ़ना, उत्कर्षण है।^१

(४) उत्कर्षण, नवीन बंध का अनुगामी है।

(५) बंधावस्था में पूर्व की स्थिति या अनुभाग में वृद्धि, उत्कर्षण नाम को प्राप्त होती है।

(६) उदयावली की स्थिति के प्रदेशों का उत्कर्षण नहीं बनता।

(७) उदयावली के बाहर की स्थितियों का उत्कर्षण यथायोग्य संभव है।

(८) उत्कर्षण बंध के समय में ही होता है।

जैसे - कोई जीव साता वेदनीय कर्म का बंध कर रहा है तो उसमें सत्ता में स्थित वेदनीय के परमाणुओं का उत्कर्षण होगा।

(९) सभी कर्म प्रकृतियों में उत्कर्षण होता है तथा तेरहवें गुणस्थान पर्यंत उत्कर्षण संभव है, आगे नहीं।^२

(१०) उत्कर्षित द्रव्य जहाँ दिया जाता है, वह निक्षेप कहलाता है।

(११) जहाँ या जिन स्थितियों में उत्कर्षित-अपकर्षित द्रव्य नहीं दिया जाता, वह स्थान या वे स्थितियाँ, अतिस्थापना कहलाती है।

(१२) उत्कर्षित की जानेवाली स्थिति, बध्यमान स्थिति से तुल्य या हीन होती है; अधिक कदापि नहीं।

२. प्रश्न :- स्थिति और अनुभाग का उत्कर्षण किस प्रकार होता है?

उत्तर :- थोड़े समय में उदय आने-योग्य नीचे के निषेकों के परमाणुओं को बहुत काल में उदय आने के योग्य ऊपर के निषेकों में मिलाने से स्थिति उत्कर्षण होता है।

तथा थोड़े अनुभाग वाले नीचे के स्पर्धकों के परमाणुओं को बहुत अनुभागवाले ऊपर के स्पर्धकों में मिलाने से अनुभाग-उत्कर्षण होता है।

३. प्रश्न : अपकर्षण करण का स्वरूप क्या है?

उत्तर : (१) कर्मप्रदेशों की स्थिति कम होने का नाम अपकर्षण है।

(२) अपकर्षण के द्वारा कर्मों की स्थिति और अनुभाग क्षीण हो जाते हैं।

(३) परिणाम-विशेष के कारण (निमित्त से) कर्म-परमाणुओं की स्थिति का कम होना, अपकर्षण है।^१

(४) स्थिति-अनुभाग के घटने का नाम अपकर्षण जानना।^२

(५) यह अपकर्षण करण तेरहवें गुणस्थान पर्यंत होता है।

(६) अपकर्षण में यह नियम है कि बद्ध द्रव्य का एक आवली काल तक अपकर्षण नहीं होता।

(७) अपकर्षण के समय उस कर्म के नवीन बंध की जरूरत नहीं।

(८) उदयावली के भीतर स्थित कर्म-परमाणुओं का अपकर्षण नहीं हो सकता।

(९) उदयावली के बाहर जो कर्म-परमाणु स्थित हैं, उनका अपकर्षण अवश्य हो सकता है।

(१०) उदीरणा में कर्मों का अपकर्षण होता है; लेकिन अपकर्षित परमाणुओं की उदीरणा ही हो यह जरूरी नहीं।

यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि उदयावली के बाहर स्थित कर्मपरमाणुओं में से अप्रशस्त उपशम, निधत्ति करण व निकाचनरूप अवस्थाओं वाले कर्मपरमाणु अपकर्षण को नहीं प्राप्त होते।

१. जय धवला, पुस्तक-७, पृष्ठ-२३७

२. लब्धिसार पीठिका, पृष्ठ-४४

(११) हाँ, यह समझना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वे अप्रशस्त उपशम आदि भी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के परिणामों के समय, उन्हीं विवक्षित उदयावली के बाहर की स्थितियों में रहते हुए भी अपकर्षण के योग्य हो जाते हैं।

(१२) विवक्षित निषेक का अपकर्षण होने पर वह निषेक समाप्त नहीं हो जाता; किन्तु उस निषेक के कुछ परमाणु ही अपकर्षित करके नीचे की स्थितियों में दिये जाते हैं।

(१३) समय-समय में जितना द्रव्य नीचे निक्षिप्त किया जाता है, उसे फाली कहते हैं।

(१४) आदि स्पर्धक का अपकर्षण नहीं होता, उत्कर्षण आदि हो सकते हैं।

(१५) उदयावली के निषेकों का मात्र स्वमुख या परमुख से उदय ही संभव है।^१

(१६) जो स्थिति अपकर्षित की जाती है, वह स्थिति, बध्यमान स्थिति से समान या हीन होती है अथवा अधिक भी हो सकती है।^२

(१७) अपकर्षित द्रव्य का उदयावली में आना जरूरी नहीं है।

४. प्रश्न : उदयावली के कर्मपरमाणु अपकर्षण को क्यों नहीं प्राप्त होते?

उत्तर : उन कर्मपरमाणुओं का स्वभाव ही ऐसा है और स्वभाव के सम्बन्ध में तर्क या प्रश्न नहीं होता।

५. प्रश्न :- स्थिति और अनुभाग का अपकर्षण कैसे होता है?

उत्तर :- बहुत काल में उदय आने के योग्य ऊपर के निषेकों के परमाणुओं को शीघ्र उदय में आनेवाले नीचे के निषेकों में मिलाने से स्थिति अपकर्षण होता है।

तथा बहुत अनुभाग वाले ऊपर के स्पर्धकों के परमाणुओं को थोड़े अनुभागवाले नीचे के स्पर्धकों में मिलाने से अनुभाग-अपकर्षण होता है।

अधिकार सातवाँ

संक्रमण

आगमाश्रित

चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

अब यहाँ संक्रमण करण विषय को लेकर कुछ चर्चा करेंगे।

१. प्रश्न :- संक्रमण करण साधक के जीवन में किसतरह उपयोगी है?

उत्तर :- पिछले अधिकारों में अब तक हमने देखा - १. बंध करण में तो कर्म का नया बंध होता है। २. सत्त्व करण में बद्ध कर्म, जीव के साथ मिट्टी के ढेले के समान पड़ा रहता है। ३. उदय करण तो सत्त्व करण का कार्य है। ४. उदीरण करण एक दृष्टि से उदय ही है। ५-६. उत्कर्षण एवं अपकर्षण में मात्र स्थिति-अनुभाग यथा-योग्य बढ़ते-घटते हैं।

अब संक्रमण की अपूर्वता बताते हैं -

संक्रमण करण का काम एक प्रकार से क्रांतिकारी कार्य है। उसका खुलासा इसप्रकार है -

(१) इस संक्रमण करण में कर्म में बदलने का कार्य होता है; इसकारण यह आमूलचूल क्रांतिकारी कार्य करता है।

(२) संक्रमण के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता; क्योंकि अनंतानुबंधी की विसंयोजना सर्व-संक्रमणरूप ही है।

मिथ्यात्व का संक्रमण सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति में होता रहता है। इसी क्रम से दर्शनमोहनीय में से मिथ्यात्व सर्वप्रथम नष्ट होता है।

तदनन्तर मिश्र/सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म का संक्रमण सम्यक्प्रकृति में होता है। सम्यक्प्रकृति स्वोदय से नष्ट होती है। इसतरह संक्रमण के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

(३) श्रेणी में भी अप्रत्याख्यानावरण + प्रत्याख्यानावरण आठों कषायों का संक्रमण के द्वार से ही अभाव होता है।

(४) संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं स्थूल लोभ उत्तरोत्तर संक्रमित होते हुए सूक्ष्मलोभरूप से परिणत होते हैं; इसलिए चारित्र की पूर्णता में संक्रमण करण अपना विशेष महत्त्व रखता है।

(५) कर्मरूप पुद्गलों में संक्रमण, अपनी-अपनी पात्रता से ही स्वतंत्ररूप से होता है; यह विषय स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। इस संक्रमणरूप कार्य का कर्ता, कर्मरूप पुद्गल ही है; जीव द्रव्य अथवा जीवद्रव्य का परिणाम भी नहीं। जीव के परिणाम, संक्रमण में निमित्त हैं; इसका निषेध नहीं। जीव, संक्रमण का मात्र ज्ञाता है। इससे उदय और औदयिकभावों का यथार्थ ज्ञान होता है।

५. प्रश्न : संक्रमण के संबंध में क्या नियम है?

उत्तर : संक्रमण का सामान्य नियम -

(१) मूल कर्मों में संक्रमण नहीं होता।

(२) उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है, वह भी अपनी सजातीय प्रकृति में बदलता है; तथापि इस नियम में अपवाद भी हैं -

(३) जैसे चारों आयु कर्म सजातीय होने पर भी उनका परस्पर में संक्रमण नहीं होता, यह कथन पुद्गल की अपनी स्वतंत्रता को स्पष्ट करता है।

(४) दर्शन मोहनीय का चारित्र मोहनीय में तथा चारित्र मोहनीय का दर्शन मोहनीय में संक्रमण नहीं होता। तथापि दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों का परस्पर में संक्रमण होता है।

(५) संक्रमण में थिबुक्क (स्तिबुक) संक्रमण नाम का एक संक्रमण है। इस कारण कर्म, एक समय के पूर्व ही अन्य प्रकृति में बदल जाता है। जैसे - क्षयोपशम दशा में सर्वघाति स्पर्धक देशघातिरूप में बदल जाते हैं। इससे संक्रमण की सूक्ष्मता का बोध होता है।

(६) कर्म का विशिष्ट रूप से संक्रमण हो, ऐसे विकल्प के कारण से किसी भी कर्म का संक्रमण नहीं होता। जैसा संक्रमण होना होता है, वैसा होता है; जीव, उसे मात्र जानता है। इसतरह जीव मात्र ज्ञाता ही है; यह विषय समझ में आता है।

विकल्प, किसी भी कार्य को करने में समर्थ नहीं है; इस अपेक्षा से विकल्प असमर्थ हैं; ऐसा स्पष्ट निर्णय होता है।

संक्रमण करण के संबंध में ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी का विचार हम आगे दे रहे हैं -

“संक्रमण की प्रक्रिया मनोविज्ञानानुसार मानसिक ग्रन्थियों से छुटकारा पाने का मानवजाति के लिए अतीव उपयोगी, सरलतम एवं महत्वपूर्ण उपाय है।^१

संक्रमण करण का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद और प्रेरक -

संक्रमण का यह सिद्धान्त स्पष्टतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद एवं पुरुषार्थ प्रेरक है। व्यक्ति पहले चाहे जितने दुष्कृतों (पापों) से घिरा हो; परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है, सद्भावना और सद्वृत्ति से युक्त है तो वह कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा सकता है और उत्कृष्ट रसायन (परिणाम) आने पर कर्मों से सदा-सदा के लिए छुटकारा पा सकता है। जैसे - मरीची का जीव।

किसी व्यक्ति ने पहले अच्छे कर्म बाँधे हों, किन्तु वर्तमान में वह दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाकर बुरे (पाप) कर्म बाँध रहा है तो पहले के पुण्य कर्म भी पापकर्म में बदल जाएँगे; (उद्वेलन संक्रमण) फिर उनका कोई भी अच्छा व सुखद फल नहीं मिल सकेगा; अतः संक्रमण करण द्वारा मनुष्य अपने जीवन का सदुपयोग या दुरुपयोग कर अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में या सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदल सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपना भाग्य विधाता स्वयं ही है, भाग्य को बदलने में वह पूर्ण स्वाधीन है।^२”

१. कर्म सिद्धान्त, पृष्ठ-२१, २२

२. वही, पृष्ठ २८, २९

भावदीपिका चूलिका अधिकार

अब आगे संक्रमण करण संबंधी विशेष ज्ञान कराने के अभिप्राय से भावदीपिका शास्त्र का विभाग दे रहे हैं।

कर्म की संक्रमण करण अवस्था कहते हैं -

“अन्य प्रकृतियों के परमाणु, दूसरी अन्य प्रकृतियोंरूप होकर परिणमे उसे संक्रमण कहते हैं।

जो मतिज्ञानावरणादि के परमाणु श्रुतज्ञानावरणरूप होकर परिणमें, श्रुतज्ञानावरण के अवधिज्ञानावरणरूप और अवधिज्ञानावरण के मनःपर्ययज्ञानावरणरूप तथा मनःपर्ययज्ञानावरण के केवलज्ञाना-वरणरूप, केवलज्ञानावरण के मनःपर्यय आदि ज्ञानावरणरूप होकर परस्पर परिणमते हैं।

मतिज्ञानावरणादि, श्रुतज्ञानावरणादिरूप परिणमें; श्रुतज्ञानावरणादि, मतिज्ञानावरणादि रूप होकर परिणमें - यह परस्पर सजातीय द्रव्य का सजातीय में संक्रमण हुआ, विजातीय में संक्रमण नहीं होता।

इसी प्रकार दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का दर्शन मोहनीय की प्रकृतिरूप, चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों का चारित्र-मोहनीय की प्रकृतिरूप, अंतराय की पाँच प्रकृतियों का अपनी अंतराय की प्रकृतियोंरूप, वेदनीय की दो प्रकृतियों का - सातावेदनीय का असाता-वेदनीयरूप, असातावेदनीय का सातावेदनीयरूप संक्रमण होता है।

नामकर्म की १३ प्रकृतियों का परस्पर नामकर्म की प्रकृतिरूप, गोत्रकर्म की - नीचगोत्र की उच्चगोत्र और उच्चगोत्र की नीचगोत्ररूप

होकर अपनी-अपनी सजातीय प्रकृतिरूप होकर परस्पर संक्रमण होता है। कोई भी कर्म विजातीय प्रकृतिरूप से परिणमते नहीं हैं।

ऐसे आयु कर्म के बिना सात कर्मों का परस्पर में संक्रमण होता है। आयु कर्म में संक्रमण करण नहीं होता। इसलिए आयुकर्म में संक्रमण करण बिना नौ करण ही होते हैं।

सत्तारूप रहे आयुकर्म बिना सात कर्म, उनका अपनी-अपनी प्रकृतियों का अपनी-अपनी प्रकृतियों में संक्रमण होता है। इसप्रकार संक्रमण करण भी आत्मा के भावों के अनुसार ही होता है।

जब जो जीव शुभ लेश्यादि शुभ भावोंरूप परिणमता है, तब असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का द्रव्य, सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों में संक्रमण/संक्रमित होता है।

जब (जीव) अशुभ लेश्यादि अशुभभावों रूप परिणमता है, तब सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का द्रव्य, असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतिरूप परिणमता है। ऐसा संक्रमण करण का विधान जानना।”

प्रश्न : ज्ञान प्राप्ति का फल तो राग का अभाव होता है न?

उत्तर : राग का अभाव अर्थात् राग से भिन्न आत्मा के अनुभवपूर्वक भेदज्ञान का होना। इसमें राग के कर्तापने का - स्वामीपने का अभाव हुआ, राग में से आत्मबुद्धि छूट गई; यह राग के प्रथम नम्बर का अभाव हो गया।

- आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ-२६

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न : संक्रमण करण का स्वरूप क्या है?

उत्तर : (१) एक कर्म प्रकृति का अन्य सजातीय कर्म प्रकृति में परिवर्तित हो जाने को संक्रमण कहते हैं।

(२) एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप संक्रान्त होना, संक्रमण है।^१

२. प्रश्न : संक्रमण कितने प्रकार का है?

उत्तर : कर्मों का यह संक्रमण ४ प्रकार का है - १. प्रकृति संक्रमण, २. प्रदेश संक्रमण, ३. स्थिति संक्रमण, ४. अनुभाग संक्रमण।

(१) एक प्रकृति का अन्य प्रकृति में संक्रमण हो जाना प्रकृति संक्रमण है।^२ जैसे - क्रोध कर्म का मान कषाय में बदलना।

(२) विवक्षित कर्म प्रदेशाग्र अन्य प्रकृति में संक्रान्त किया जाता है, उसे प्रदेश संक्रमण कहते हैं।^३

(३) कर्मों की स्थिति का उत्कर्षित - अपकर्षित होना स्थिति संक्रमण है।

(४) कर्मों के अनुभाग का अपकर्षित होना - उत्कर्षित होना, अनुभाग संक्रमण है।^४

३. प्रश्न : उत्तरप्रकृति संक्रमण कितने प्रकार का है?

उत्तर : उत्तरप्रकृति संक्रमण पाँच प्रकार का है - १. उद्वेलन संक्रमण, २. विध्यात संक्रमण, ३. अधःप्रवृत्त संक्रमण, ४. गुण संक्रमण, ५. सर्व संक्रमण।

१. जय धवला, पुस्तक-९ पृष्ठ-३

२. धवला, पुस्तक-१६, पृष्ठ-३४० का भाव

३. धवला, पुस्तक-१६ पृष्ठ-४०८

४. धवला, पुस्तक-१६, पृष्ठ-३७५ पर भाव

अधिकार आठवाँ

उपशांत

आगमाश्रित

चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :- उपशान्त करण किसे कहते हैं?

उत्तर :- उदय एवं उदीरणा के अभाव में कर्मों की शांत (उदय के अयोग्य) दशा को उपशांत या उपशमना करण कहते हैं।

१. उपशांत करण को ही उपशमना करण भी कहते हैं।
२. उपशांत अवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण हो सकता है; किन्तु उसकी उदीरणा नहीं होती।
३. उपशांत करण/उपशमना करण आठों कर्मों में होता है।
४. कर्मों की दस अवस्थाओं में एक उपशांत करण भी है।

२. प्रश्न :- यदि उपशान्त करण नहीं होता तो क्या आपत्ति आती?

उत्तर :- यदि उपशांत करण नहीं होता तो कर्मबंध के तत्काल बाद ही कर्म का उदय आ जाने से कर्मोदय की व्यवस्थित व्यवस्था ही भंग हो जाती।

यदि उपशांत करण नहीं मानेंगे तो कर्मबंध होने के अनंतर/तत्काल ही कषाय आदि का उदय हो जाने से कोई भी सम्यग्दृष्टि, संयमी, ज्ञानी, पूर्ण ज्ञानी आदि होने का कार्य भी जीव नहीं कर सकेगा।

३. प्रश्न : सत्त्व करण और उपशान्त करण में क्या अन्तर है?

उत्तर : कर्मबंध होने के बाद उदय काल पर्यंत के बीच के काल में जो कर्म का अस्तित्व रहता है, उसे सत्त्व अथवा सत्ता कहते हैं।

कर्म का अभाव होने तक सत्ता (सत्त्व) करण का काल, दीर्घ होता है।

कर्मबंध होने के बाद मर्यादित काल पर्यंत कर्म के उदय, उदीरणा नहीं होना - कर्म की दबी रहनेरूप अवस्था को उपशांत करण कहते हैं।

सत्त्व करण के काल की अपेक्षा से उपशांत करण का काल, अति अल्प होता है।

उपशांत करण के संबंध में जिनेन्द्रवर्णीजी के विचार निम्नानुसार हैं - सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्ति के समय में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम करणों का अनोखा महत्त्व है -

उपशमन का भी जीव को बन्ध से मुक्ति की ओर ले जाने में बहुत बड़ा हाथ है; क्योंकि जितनी देर तक कर्ममल उपशम-अवस्था में शान्त रहा-दबा रहा या उदय से विरत रहा, उतनी देर तक आत्मा के परिणाम शत-प्रतिशत निर्मल तथा शुद्ध रहे। इतने काल तक उसमें न तो कोई रागादि का विकल्प उठा और न ही कोई कषाय। वह उतनी देर तक पूर्णतया समता अथवा शमता से युक्त रहा।

यह थोड़ा-सा काल बीत जाने पर भले ही कर्म उदय में आ जाए, और उसके प्रभाव से जीव में पुनः विकल्प एवं कषाय जागृत हो जाए; किन्तु उपशम काल में तो वह उतनी देर तक पूर्णतया निर्विकल्प तथा वीतराग रहा ही है। यद्यपि यह काल अतीव अल्प होता है, फिर भी मुमुक्षु साधक के जीवन में, बन्ध से मुक्ति की ओर दौड़ लगाने में इसका महत्त्व बहुत अधिक है। बन्ध से मुक्ति की यात्रा में उपशम का पड़ाव, वीतरागता और निर्विकल्पता की झाँकी दिखाने वाला पड़ाव है।^१ ●

१. कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) पृ. १०८

यहाँ उपशांत को उपशम मानकर विवेचन है।

भावदीपिका चूलिका अधिकार

कर्म की उपशांत करण अवस्था कहते हैं :-

अपनी-अपनी स्थिति को लिये हुए सत्ता में रहा हुआ ज्ञाना-वरणादि कर्मों का द्रव्य, जिसमें जिसकी जितने काल तक उदीरणा नहीं होती, उतने काल तक उपशांत करण कहलाता है।

जो शुभाशुभ कर्म, आत्मा के तीव्र-मंद कषायों के अनुभाग-सहित शुभाशुभ भावों से जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थिति-सहित बँधा है, वह तो दृढरूप से रहता है।

जब तक उसकी उदीरणा होने योग्य हीन-अधिक अनुभाग को लिये आत्मा के भाव न हों, तब तक उस कर्म की उदीरणा करने के लिये आत्मा समर्थ नहीं है।

जब वैसे ही तीव्र-मंद अनुभाग-सहित आत्मा के उदीरणा-योग्य भाव हों, तब उस कर्म की उदीरणा करने में समर्थ होता है।

इसलिए जितने काल, जिस कर्म की उदीरणा नहीं होती, दूसरे-दूसरे करण होते हैं, उतने काल तक उपशांत करण कहलाता है।

प्रश्न : सम्यक् श्रद्धा और अनुभव में क्या अन्तर है?

उत्तर : सम्यक्श्रद्धान-प्रतीति तो श्रद्धागुण की पर्याय है और अनुभव मुख्यतः चारित्रगुण की पर्याय है।

- आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ-२४

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :- उपशान्त/उपशमना करण किसे कहते हैं?

उत्तर :- विवक्षित प्रकृति के जो निषेक, उदयावली से बाहर हैं; उन परमाणुओं को उदयावली में आने के अयोग्य करने का नाम उपशान्त करण है।

२. प्रश्न :- उपशम और उपशान्त करण में क्या अन्तर है?

उत्तर :- उपशम और उपशांत करण में अंतर निम्न प्रकार है -

(१) परिणामों की विशुद्धि के निमित्त से कर्मों की फलदान शक्ति का प्रकट न होना, उपशम है।

जो कर्म उदय में नहीं दिया जा सके वह, उपशान्त कहलाता है।^१ कर्म को उदय के लिए अयोग्य करना, उपशांत है।

बध्यमान तथा उदीर्ण (व उदित) से भिन्न समस्त कर्मों की उपशान्त संज्ञा है।^२

(२) उपशम भाव तो मोहनीय कर्म का ही होता है।

उपशान्त करण सब प्रकृतियों का होता है।

(३) उपशम भाव ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।

उपशान्त करण आठवें गुणस्थान पर्यन्त ही होता है।

(४) इस उपशम से युक्त कर्म-परमाणुओं का अपकर्षण, उत्कर्षण अथवा संक्रमण तो सम्भव होता है, परन्तु उदय, उदीरणा नहीं होते।

१. धवला, पुस्तक-९, पृष्ठ-२३६

२. वही, पुस्तक-१२, पृष्ठ-३०६

इस उपशामना द्रव्य को उदयावली में प्राप्त न कराने का नियम आठवें अपूर्वकरण नामक गुणस्थान पर्यन्त ही होता है।

नौवें अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के उपशांत आदि तीनों करण (उपशांत, निधत्ति व निकाचित) युगपत् व्युच्छिन्न (नष्ट) हो जाते हैं।

३. प्रश्न :- उपशामना करण के भेदों को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर :- करणानुयोग में उपशामना का 'अनुदय' अर्थ विवक्षित है। यह उपशान्त या उपशामना दो प्रकार की है -

१. अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण - इन परिणामों के द्वारा जो मोहनीय कर्म की अंतरकरणरूप क्रिया होने के बाद उपशामना होती है, वह प्रशस्तोपशामना या प्रशस्त उपशम है।

२. कितने ही कर्म-परमाणुओं को बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग कारणवश उदीरणा द्वारा उदय में न आने देना, इसे अप्रशस्त उपशामना अथवा उपशान्त करण कहते हैं।

बन्ध के समय ही कुछ कर्मप्रदेशों में अप्रशस्त उपशामना होती है, वह यहाँ प्रकृत है।

४. प्रश्न :- उपशम के कितने भेद हैं?

उत्तर :- उपशम के दो भेद हैं - एक प्रशस्त उपशम और दूसरा अप्रशस्त उपशम।

५. प्रश्न : प्रशस्त उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : (१) अधःकरणादि द्वारा उपशम विधान से (अनंतानुबंधी चतुष्क बिना) मोहनीय कर्म की सर्व प्रकृतियों की जो उपशमना होती है, उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। इससे पूर्व अन्तरकरणरूप क्रिया होती है।

(२) आगामी काल में उदय आनेयोग्य कर्म परमाणुओं को जीवकृत परिणाम विशेष के द्वारा आगे-पीछे उदय में आनेयोग्य होने को अंतर-

करणरूप उपशम क्रिया कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय का प्रशस्त उपशम ही होता है।

(३) उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थिति-काण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात के बिना कर्मों के सत्ता में रहने को प्रशस्त उपशम कहते हैं।

६. प्रश्न : अप्रशस्त उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनन्तानुबन्धी आदि कर्म प्रकृतियों का शक्तिहीन होकर अप्रत्याख्यानावरण आदि रूप से उदय में आने को अप्रशस्त उपशम कहते हैं।

(१) वर्तमान समय छोड़कर आगामी काल में उदय आनेवाले कर्मों का सत्ता में पड़े रहने को अप्रशस्त उपशम कहते हैं।

(२) उदय का अभाव ही अप्रशस्त उपशम है।

(३) अनंतानुबंधी का अप्रशस्त उपशम ही होता है। जैसे ह्व सर्वघाती प्रकृतियों का क्षयोपशम दशा में होनेवाला उपशम।

(४) जो कर्म तीन करणों के बिना ही सत्ता में स्वयं दबा हुआ रहे, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं।

(५) सम्यग्दर्शन के समय जो तीन करण होते हैं, वे दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम के लिए होते हैं, अनंतानुबंधी कषाय को दबाने के लिए नहीं; परन्तु अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्त उपशम अपने आप होता है।

७. प्रश्न :- हमने शास्त्र में अन्तरकरणरूप उपशम भी सुना है, वह क्या है?

उत्तर :- जिस कर्म का अन्तरकरण करना हो उसकी प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थिति के निषेकों का अभाव करने को अन्तरकरणरूप उपशम क्रिया कहते हैं।

जैसे मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वकर्म का अन्तरकरण करता है। इसमें अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। सो वह अनादिकाल से उदय में आने वाले

मिथ्यात्वकर्म की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति सम्बन्धी निषेकों को छोड़कर उससे ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के निषेकों को अपने स्थान से उठा-उठाकर अपकर्षणयोग्य को प्रथम स्थिति (नीचे की स्थिति) सम्बन्धी निषेकों में मिला देता है। उत्कर्षणयोग्य को नये बंध में मिला देता है।

इसतरह वह तब तक करता रहता है, जबतक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के पूरे निषेक समाप्त न हो जायें।

जब मध्यवर्ती समस्त निषेक ऊपर की अथवा नीचे की स्थिति के निषेकों में दे दिये जाते हैं और प्रथम स्थिति तथा द्वितीय स्थिति के बीच का अन्तरायाम मिथ्यात्व कर्म के निषेकों से सर्वथा शून्य हो जाता है, तब अन्तरकरण क्रिया पूर्ण हो जाती है।

८. प्रश्न :- अन्तरकरणरूप उपशम क्रिया का कार्य क्या है ?

उत्तर :- अन्तरकरण का स्वरूप पहले कहा है। अन्तरकरण के द्वारा आगामी काल में उदय आने योग्य कर्म परमाणुओं को आगे-पीछे उदय आने योग्य करने का नाम, अन्तरकरणरूप उपशम क्रिया है।

९. प्रश्न :- शास्त्रों में सदवस्थारूप उपशम की चर्चा भी है; वह क्या है?

उत्तर :- आगामी काल में उदय आनेयोग्य निषेकों के सत्ता में रहने को (उदीरणा के अयोग्य होने को) सदवस्थारूप उपशम कहते हैं। ●

प्रश्न : मिथ्यात्व-आस्रवभाव को तोड़ने का वज्रदण्ड क्या है?

उत्तर : त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव ही वज्रदण्ड है; क्योंकि उसी का आश्रय लेने से मिथ्यात्व-आस्रवभाव टूटता है। प्रथम में प्रथम कर्तव्य राग से भिन्न होकर ज्ञायकभाव की दृष्टि करना है। इस कार्य को किये बिना तप-व्रतादि सभी कुछ थोथा है।

— आत्मधर्म : सितम्बर १९७९, पृष्ठ-२७

अधिकार नौवाँ

निधत्ति-निकाचित

आगमाश्रित

चर्चात्मक प्रश्नोत्तर

आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा लिखित गोम्मटसार कर्मकाण्ड के दस करण चूलिका अधिकार में गाथा क्रमांक ४४० की टीका करते हुये आर्यिका आदिमतीजी ने निधत्ति और निकाचित की परिभाषा निम्न प्रकार दी है -

निधत्ति - (१) जो कर्म प्रदेशाग्र (उदीरणा करके) उदय में देने के लिए अथवा अन्य प्रकृतिरूप परिणामने के लिए शक्य नहीं है, वह निधत्त है।^१

(२) जो कर्म प्रदेशाग्र निधत्तिकृत है, यानि उदय में देने के लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृति में संक्रान्त करने के लिए भी शक्य नहीं है; किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण करने के लिए शक्य है; ऐसे प्रदेशाग्र की निधत्ति संज्ञा है।^२

निकाचित - जो कर्म, इन चारों (उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण अपकर्षण) के लिए अयोग्य होकर अवस्थान की प्रतिज्ञा में प्रतिबद्ध है। उसकी उस अवस्थान लक्षण पर्याय विशेष को निकाचन करण कहते हैं।^३

यहाँ तक तो जो कुछ दिया, वह सब शास्त्राधार से दिया है। निधत्ति और निकाचितरूप कर्म फल देकर ही नष्ट होते हैं; उन कर्मों के सामने

१. धवला, पुस्तक ९, पृष्ठ-२३५

२. धवला, पुस्तक-१६, पृष्ठ-५१६

३. जय धवला, पुस्तक-१३, पृष्ठ २३१

जीव का कुछ नहीं चलता। कर्म का फल तो भोगना ही पड़ेगा, ऐसा कथन अनेक स्थानों पर किया जाता है वह जिस अपेक्षा से कहा जाता है, उस अपेक्षा से वहाँ के लिए सत्य ही है।

इसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए हम यह भी समझ सकते हैं कि पाँचों पांडवों को, गजकुमार मुनिराज को अथवा रामचन्द्रजी एवं सीताजी को जो प्रतिकूल संयोगजन्य दुःख हुआ था, वह पापरूप निकाचित कर्म का उदय था। ये पापरूप निकाचित के उदाहरण हो सकते हैं।

तीर्थकर अवस्था को प्राप्त करके जो मुक्त हो गये ऐसे शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ जैसे महापुरुषों को गृहस्थ जीवन में पुण्यरूप निकाचित कर्म था, जो उदय में आकर फल देकर ही नष्ट हुआ। इस कारण वे चक्रवर्ती और कामदेव भी बने थे। ये पुण्यरूप निकाचित के उदाहरण हो सकते हैं।

१. प्रश्न :- निधत्ति कर्म एवं निकाचित कर्म - ये दोनों कर्म अत्यन्त दृढ़ होते हैं। उन कर्मों का फल जीव को भोगना ही पड़ता है - ऐसा कथन शास्त्र में आता है। यह जानकर हमारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अरहंत-सिद्ध बनने वाले जीवों ने इन कर्मों का नाश कैसे किया होगा? कहाँ किया होगा? यह स्पष्ट करें।

उत्तर :- आपको प्रश्न होना स्वाभाविक है; ऐसे प्रश्न अनेक जिज्ञासुओं को होते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में दसकरण चूलिका की अन्तिम गाथा ४५० में आपके प्रश्न का उत्तर दिया है, वह इसप्रकार है -

उदये संकममुदये, चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं।

उवसंतं च णिधत्तिं, णिकाचिदं तं अपुव्वोत्ति ॥४५०॥

अर्थ - जो उदयावली को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है, ऐसा उपशांत करण द्रव्य तथा जो संक्रमण अथवा उदय को प्राप्त होने में समर्थ नहीं है, ऐसा निधत्तिकरण द्रव्य एवं जो उदयावली, संक्रमण,

उत्कर्षण और अपकर्षण को प्राप्त होने में समर्थ नहीं है, ऐसा निकाचितकरण द्रव्य है - ये तीनों ही प्रकार के करणद्रव्य अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त ही पाए जाते हैं, क्योंकि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के ये तीनों करण युगपत् व्युच्छिन्न (नष्ट) हो जाते हैं।^१

यहाँ मुख्यरूप से यह समझना आवश्यक है कि जब कर्मभूमिज मनुष्य मुनि अवस्था को स्वीकार करके अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में प्रवेश करते ही तत्काल अर्थात् आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय के व्यय में अथवा नौवें गुणस्थान के उत्पाद रूप पहले समय में कर्मों का निधत्ति व निकाचितपना नष्ट होता है और क्षपक मुनिराजों का अरहंत, सिद्ध बनने का कार्य अति तीव्र गति से प्रारंभ होता है।

इस पुरुषार्थमूलक अंश का ज्ञान सामान्य मनुष्य को भी होना चाहिए। शास्त्र के जानकारों की यह बहुत बड़ी जिम्मेदारी है।

जो कर्म को ही सामर्थ्यशाली सिद्ध करना चाहते हैं, वे कर्म के निधत्ति-निकाचितपने का ज्ञान तो जनसामान्य को कराते हैं; लेकिन उन कर्मों को ही नष्ट करने का सामर्थ्य भी जीव में है; इस विषय का कथन करना छोड़ देते हैं, यह उचित नहीं है।

जिनवाणी का कथन तो मुख्यरूप से जीव को ऊपर उठाने के लिए, पुरुषार्थी बनाने के लिए करना होता है, करना भी चाहिए।

जो उपदेश जीव को अपनी हीन अवस्था से निकालकर उच्च अवस्था पर्यन्त पहुँचाता है, वही जिनधर्म का उपदेश है।

अतः जिनवाणी का कथन करनेवाला वक्ता हो अथवा सामान्य लेखन के माध्यम से सर्वज्ञ भगवान की वाणी को समाज में पहुँचानेवाला लेखक हो, उसका प्रमुख कर्तव्य तो यही है कि श्रोता अथवा पाठक

१. 'सव्वेसिं कम्मणमणियट्टिगुणट्ठाणपवेसपढमसमए चेव एदाणि तिण्णि वि करणाणि अक्कमेण वोच्छिण्णाणि ति भणिदं होइ।' जयधवलना पुस्तक-१३, पृष्ठ-२३१

उत्साह के साथ अपने जीवन को प्रगतिशील बनावें। जीव को अर्थात् स्वयं को सामर्थ्य-संपन्न स्वीकार करें। अपने को कर्मों का गुलाम न समझें; ऐसा ही कथन और लेखन करना आवश्यक है।

अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान के पहले-पहले पुण्यरूप अथवा पापरूप निधत्ति-निकाचितपना रहना बात अलग है और कर्मों के निधत्ति-निकाचितपने के कारण जीव कर्मों में कुछ कर ही नहीं सकता, कर्म तो बलवान ही है, जीव को किए हुए पुण्य-पाप का फल भोगना ही अनिवार्य है; कर्मों के सामने जीव कुछ भी नहीं कर सकता है; ऐसा एकान्त रूप से कथन करना तो मिथ्यामान्यता है।

द्रव्यानुयोग के माध्यम से प्रत्येक जीव स्वभाव से भगवान ही है, कमजोरी से अथवा पर्यायगत पात्रता से वर्तमान पर्याय में तात्कालिक विभाव भाव होते हैं, उसमें कर्म निमित्त है। इसतरह प्रत्येक जीव को अपने मूल स्वभाव का व पर्यायगत पात्रता का ज्ञान करना एवं कराना चाहिए।

उक्त कारण से ही आत्मस्वभाव का/शुद्धात्मस्वभाव का ज्ञान करानेवाले समयसार शास्त्र को ग्रंथाधिराज कहा है, जो कि परम सत्य है। आचार्य योगीन्दुदेव ने तो अप्पा सो परमप्पा, आत्मा ही परमात्मा है, ऐसा उपदेश दिया है।

२. प्रश्न :- निधत्ति, निकाचितकरण को नहीं मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आयेंगी?

उत्तर :- (१) इस लोक में जीव और पुद्गल की जो-जो पर्यायों/अवस्थाएँ हमें जानने में आती हैं - उनमें सामान्य एवं विशेष ऐसी दो प्रकार की अवस्थाएँ देखने को मिलती ही हैं।

यहाँ धर्मादि द्रव्यों की पर्यायों को गौण किया है; क्योंकि उनके अरूपीपना होने के कारण उनके संबंध में होनेवाला ज्ञान छद्मस्थ को विशद/स्पष्टरूप से नहीं होता।

जैसे किसी भी वर्ण गुण की अवस्था हो, वह सामान्य और विशेष

होती ही है। स्निग्ध की पर्यायें भी अलग-अलग होती ही हैं। मीठेपन में भी भिन्नता का स्पष्ट ज्ञान होता है। जैसे गुड़ मीठा होता है, शक्कर भी मीठी होती है। मिश्री का मीठेपन का ज्ञान तो सबको समझ में आता ही है। इससे भी अधिक मीठापन सैक्रीन में होता है।

जैसे ऊपर पुद्गल की पर्यायों में हमने विशेषता का ज्ञान कराया, वैसे ही कर्म की जो-जो अलग-अलग अवस्थाएँ हैं, उनका भी ज्ञान करना चाहिए।

कर्म तो पुद्गलरूप है, यह बात तो आगमाभ्यासी को स्पष्ट ही है। पुद्गलमय कर्म की फलदान शक्ति की भी हीनाधिकता का होना स्वाभाविक है।

जिन कर्मों में अधिक दृढ़ता/परिपक्वता रहती है; उन्हें ही तो निधत्ति, निकाचित नाम मिलता है। यदि कर्मों में निधत्ति, निकाचितपना हम नहीं मानेंगे तो पुद्गल की अवस्थाओं का हमें यथार्थज्ञान नहीं होगा तथा इससे हमें अज्ञानता का दोष आयेगा।

(२) साधक जीव की वीतरागता को धर्म कहते हैं, उस धर्म में भी हीनाधिकता होती है। चौथे गुणस्थानवर्ती की वीतरागता के कारण जिन कर्मों का नाश होता है, वे कर्म तो सामान्यरूप से दृढ़ होते हैं। जो मात्र भावलिंगी मुनिराज के जीवन में और वह भी अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में प्रगट होनेवाले धर्म से निर्जरित होते हैं, वे कर्म वास्तविक रूप से देखा जाय तो अति-अति दृढ़ होना ही चाहिए। इस अनुमान से भी हम कर्मों में निधत्ति, निकाचितपने की सिद्धि कर सकते हैं।

यदि हम निधत्ति, निकाचितरूप कर्मों को नहीं मानेंगे तो चौथे गुणस्थान के धर्म और नौवें गुणस्थान के धर्म में भेद अर्थात् तारतम्य है - इसका स्वीकार न होने की आपत्ति आयेगी।

जैसे चौथे गुणस्थान की शुद्धि (वीतरागता) में और नौवें गुणस्थान की शुद्धि में विशेषता है, वैसे ही सामान्य कर्म की दृढ़ता और निधत्ति, निकाचित कर्मों की दृढ़ता में अन्तर है।

(३) यदि हम पापमय निधत्ति, निकाचित कर्म की अवस्था का स्वीकार नहीं करेंगे तो धर्मराज युधिष्ठिर भीम आदि महापुरुषों को गृहस्थ जीवन में अथवा मुनिराज के जीवन में भी जो प्रतिकूलता का सामना करना पड़ा - ऐसे कार्य कैसे हो सकते थे?

(४) यदि पुण्यमय निधत्ति-निकाचित कर्मों को नहीं मानेंगे तो शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ को कामदेव तथा चक्रवर्तित्व के पुण्य का भोग भी कैसे संभव हो सकता था?

इन कारणों से कर्म में निधत्ति, निकाचितकरणरूप अवस्था होनी ही चाहिए और हमें भी उनको मानना ही चाहिए।

३. प्रश्न :- निधत्ति, निकाचितरूप कर्मों को जीव किन परिणामों से बाँधता है? स्पष्ट करें।

उत्तर :- हमें पहले यह स्वीकारना चाहिए कि निधत्ति और निकाचितपना आठों कर्मों में पुण्य-पाप दोनों रूप होता है।

सामान्यरूप से पहले हम यह जानें कि तीव्र मिथ्यात्व परिणाम से सहित जो अत्यन्त संक्लेश परिणाम करेगा; वही जीव, पापमय निधत्ति-निकाचितरूप कर्मों का बंध करेगा।

उसी तरह जो जीव मोक्षमार्गी हुआ हो अर्थात् चौथे, पाँचवें एवं छठे गुणस्थानवर्ती हो एवं धर्मप्रभावना करने का जिसे विशेष विशुद्ध परिणाम हो, वही जीव, पुण्यमय निधत्ति-निकाचित कर्मों का बंध करेगा।

विशेष खुलासा करते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि जो जीव यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु की विराधना करते हों, सप्त तत्त्व का विरोध करते हों, सप्त व्यसनों में लिप्त रहना जिनकी जीवन-चर्या बन गयी हो, तीव्र हिंसादि पाप परिणाम एवं कार्य जिनके लिए सहज हों, ऐसे जीव पापमय निधत्ति, निकाचित कर्मों का बंध करते हैं।

उसीप्रकार जो जीव अष्टांग सम्यग्दर्शन-सहित जीवन बिताते हों; सप्त तत्त्व, नव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान रखते हों एवं जिनेन्द्र-शासन की प्रभावना करने में जिनका जीवन समर्पित हों, एकेन्द्रियादि सर्व जीवों

की हिंसा से विरत हों, अन्य असत्यादि पापों से सर्वथा रहित हो गये हों, जिनके श्वासोच्छ्वास में दयापालन का भाव हो - ऐसे परिणामों के धारक जीव पुण्यमय निधत्ति-निकाचित कर्मों का बंध करते हैं।

जहाँ भी हार तथा जीत का प्रसंग रहता है, सामान्य नियम यह है कि बलवान जीतता है और बलहीन हार जाता है।

जब जीव और कर्म में भी जब जीव अपनी पर्यायगत योग्यता से धर्म प्रगट नहीं कर पाता। अपने में अनन्त वीर्य अर्थात् सामर्थ्य होने पर भी उसका भान/ज्ञान नहीं रखता तो कर्म बलवान है, कर्म जीव को परेशान करता है; ऐसा अनादि का रूढ़ व्यवहार चलता है। इस व्यवहार का स्वीकार जिनवाणी माता ने भी अपने कथन में किया ही है।

जब जीव अपनी वर्तमानकालीन अवस्था में वीतरागता प्रगट करता है, तब जीव का कर्म से युद्ध प्रारंभ होता है। प्रारम्भ में जीव की धर्मरूप पर्याय (वीतरागता) अल्प रहती है, जब अनादिकालीन कर्मरूपी शत्रु से युद्ध करने में सामर्थ्य कम रहती है, तब जीव के बलहीनपना बताने के लिए कर्म को बलवान कहने का व्यवहार होता ही है। यह कथन वर्तमान अवस्था की अपेक्षा असत्य भी नहीं है; क्योंकि जीव तो स्वभाव से अनन्त वीर्यवान होने पर भी अपना बल प्रगट ही नहीं करता अतः कर्म को बलवान एवं जीव को भी मजबूरीवश ज्ञानियों द्वारा भी बलहीनपने की उपाधि मिलती है। बलहीनता कर्मों से नहीं इस जीव की स्वयं की है।

जीव को अपना ज्ञान/भान होने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर जीव का मानस (भाव) कर्म को पराजित करने का बनता है। अपनी शक्ति के अनुसार विपरीत मान्यतामय अधर्म का नाश करके मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कर्म को पछाड़कर प्रारम्भ में ही नष्ट करता है। यह बहुत बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण काम हो गया।

अब जीव को आत्मसामर्थ्य का विश्वास हो गया। धीरे-धीरे जीव अपना सामर्थ्य बढ़ाता रहता है। इसी क्रम में मुनिपना के लिए योग्य धर्म प्रगट हो जाता है, आत्मानन्द बढ़ता जाता है, तथापि कर्म को अर्थात् अपने विभाव भावों को आमूलचूल नष्ट करके साक्षात् भगवान बनने के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को यहाँ निधत्ति, निकाचित कर्म नाम से कहा है। **कर्मरूप शत्रु में निधत्ति, निकाचितपना अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यन्त रहता है।**

जीव अपने वीतराग परिणामों को अपूर्व-अपूर्वरूप से बढ़ाता रहता है और आनन्द भी भोगता रहता है। इसी क्रम में वीतराग परिणामों में और विशेषता आती रहती है। उसी विशेषता को अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं। **इसे नौवाँ गुणस्थान भी कहते हैं।**

परिणामों में अनिवृत्तिपना आते ही अत्यन्त दृढ़ ऐसे निधत्ति-निकाचित कर्म की दृढ़ता स्वयमेव नष्ट होती है और वे कर्म, सामान्य कर्म बनकर यथायोग्य समय पर उदय में आते हैं। जैसे जमे हुए घी को अग्नि का संपर्क मिलते ही वह तत्काल पिघलने लगता है।

वैसे अनिवृत्तिकरण परिणाम उत्पन्न होते ही निधत्ति, निकाचित करण रूप कर्म का तत्काल नाश हो जाता है। इस कारण वे निधत्ति एवं निकाचित रूप कर्म ही सामान्य कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं और यथायोग्य समय पर यथायोग्य फल देते हैं।

मोक्षमार्ग विशेष-विशेष विकसित होता रहता है। साक्षात् भगवान होने का कार्य गतिशील रहता है और अल्पकाल में ही वे महान पुरुषार्थी क्षपक मुनिराज, अरहंत बनते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह हो गया कि क्षपक मुनिराज ही वृद्धिगत वीतराग परिणामों से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में निधत्ति, निकाचित कर्मों को हमेशा-हमेशा के लिए नष्ट करते हैं।

उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त मुनिराज भी निधत्ति-निकाचित कर्मों से रहित होते हैं।

आठवें गुणस्थान तक व्यक्त होने वाला धर्म (वीतराग, रत्नत्रय);

निधत्ति, निकाचित कर्मों को नष्ट नहीं करता। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि कर्मों का निधत्ति, निकाचितपना प्रथम गुणस्थान से आठवें गुणस्थान तक रहता है, आगे नहीं; क्योंकि अनिवृत्तिकरण आदि गुणस्थान में मुनिराजों का प्रकट धर्म विशेष बलवान होने से उनके निधत्ति-निकाचित कर्म पराभूत हो जाते हैं।

प्रश्न : ४. पापरूप निधत्ति-निकाचित करणरूप कर्म का जैसे नौवें गुणस्थान में प्रवेश करते ही नाश होने का नियम है, वैसे ही पुण्यरूप निधत्ति-निकाचित कर्म का भी नाश होने का नियम है क्या?

उत्तर : नहीं, पुण्यरूप निधत्ति-निकाचित का अर्थात् कामदेवत्व प्रकृति अथवा चक्रवर्तीत्व के कारणरूप पुण्य का नाश नहीं होगा; क्योंकि ऐसे विशिष्ट जीव का मोक्षमार्गरूप कारण नष्ट नहीं होता। उनका मोक्षमार्ग बढ़ता रहता है और पुण्य भी सहजरूप से बढ़ता ही रहता है। इसकारण विशिष्ट पुण्यमय निधत्ति-निकाचित कर्म में पुण्यमय ही विशेषता और आती रहती है - यह विशेषता है। ●

प्रश्न : प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र और निरपेक्ष है, तो भी जब जीव को राग होता है, तभी परमाणु कर्मरूप से क्यों परिणमन करते हैं?

उत्तर : जीव को राग हुआ है, उससे परमाणु कर्मरूप से परिणमित नहीं हुए हैं; किन्तु परमाणुओं के कर्मरूप से परिणमित होने का वही स्वकाल होने से जीव के राग की अपेक्षा बिना ही स्वतंत्ररूपेण परमाणु कर्मरूप से परिणमन करते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहज है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की सहजता का अज्ञानी को भान न होने से ही उसे दो द्रव्यों में कर्ता-कर्मपने का भ्रम होता है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन को पर की अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र ही परिणमन कर रहा है।

— आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ-२८

भावदीपिका चूलिका अधिकार

यहाँ निधत्ति एवं निकाचित करण विषयक भावदीपिका का अंश दिया जा रहा है।

कर्म के निधत्ति करण को कहते हैं :-

सत्ता में रहे हुए ज्ञानावरणादि कर्म, उनमें से जिस कर्म के द्रव्य की जितने काल तक उदीरणा भी न हो और संक्रमण भी न हो, उतने काल तक निधत्ति करण कहलाता है।

जो कर्म जैसी स्थिति-अनुभाग को लिये आत्मा के शुभाशुभ भावों से बँधा है, वैसे ही जितने काल तक अतिदृढ़ हो निधत्तिकरणरूप होकर रहता है, उसकी जितने काल तक उदीरणा और संक्रमण नहीं हो सकता, उतने काल तक उस कर्म की निधत्ति अवस्था कहलाती है।

कर्म के निकाचित करण को कहते हैं :-

सत्ता में रहे हुए ज्ञानावरणादि कर्म, उनमें जिस कर्म के द्रव्य की जितने काल तक उदीरणा न हो, संक्रमण न हो और उत्कर्षण-अपकर्षण भी न हो; उतने समय तक उस कर्म की निकाचित अवस्था कहलाती है।

जो कर्म जैसी स्थिति-अनुभाग को लिये आत्मा के शुभाशुभ भावों द्वारा बँधा है, वैसे ही अत्यन्त दृढ़ है; निकाचित अवस्था रूप होकर रहता है। उसकी जब तक उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण - ये चारों करण करने के लिये आत्मा के परिणाम असमर्थ हों, उतने काल तक उस कर्म की निकाचित अवस्था जानना।

इस प्रकार भावदीपिका चूलिका अधिकार में संक्षेप में निधत्ति एवं निकाचितकरण का स्वरूप बताया गया है।

इसप्रकार ये कर्म की दस अवस्थायें होती हैं। उनमें भी जीव के भाव ही कारण हैं।

गुणस्थान में करण

(१) अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थान पर्यन्त तो सभी दस करण होते हैं।

(२) ऊपर अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानों में उपशान्त करण, निधत्ति करण, निकाचित करण - ये तीन करण नहीं होते। वहाँ सात करण ही हैं।

(३) उपशांतकषाय ग्यारहवें गुणस्थान में संक्रमण करण करता है। इस कारण वहाँ सात करण हैं, क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व का संक्रमण पाया जाता है। उससे ऊपर बारहवें एवं तेरहवें गुणस्थान में संक्रमण करण का भी अभाव हो गया, अतः वहाँ बंध, सत्ता, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण - ये छह प्रकार के ही करण होते हैं।

(४) उससे ऊपर अयोगी में पूर्वबद्धकर्मा का सत्त्व और उदय दो ही करण पाये जाते हैं। नवीनबंध होता नहीं है।

अन्य अपेक्षा से करण - (१) उपशान्तकषाय गुणस्थान में संक्रमण करण मात्र मिथ्यात्व एवं मिश्रमोहनीय प्रकृति के ही होते हैं, अर्थात् इन दोनों के कर्मपरमाणु सम्यक्त्वमोहनीय रूप परिणम जाते हैं। अन्य कर्मों का संक्रमण करण दसवें गुणस्थान में चला गया।

(२) इतना विशेष है कि जयधवला के अनुसार उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों में बन्ध एवं उत्कर्षण करण भी नहीं माना है।^१

(३) “दसकरणीसंग्रह” ग्रन्थ में भी ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में प्रकृतिबंध की संभावना की अपेक्षा करके बन्ध करण भी कहा है, पर उत्कर्षण करण तो वहाँ भी नहीं कहा।

(४) आठवें गुणस्थान तक अप्रशस्त उपशम होता है। अर्थात् अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में अप्रशस्त उपशमना करण की व्युच्छिति हो जाती है।^२

१. जयधवला, पुस्तक-१४, पृष्ठ-३७-३८

२. वही, पुस्तक-१४, पृष्ठ-६

आगमगर्भित प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न :- निधत्ति करण किसे कहते हैं?

उत्तर :- विवक्षित प्रकृति के परमाणुओं का संक्रमण करने के और उदयावली में आने के योग्य न होना (उदीरणा के अयोग्य), निधत्ति करण है।

२. प्रश्न :- निकाचित करण किसको कहते हैं?

उत्तर :- विवक्षित प्रकृति के परमाणुओं का संक्रमण करने अथवा उदीरणा करके उदयावली में आने के अथवा उत्कर्षण अथवा अपकर्षण करने के योग्य न होना, निकाचित करण है।

- (१) निधत्ति एवं निकाचित भी प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग के भेद से ४ प्रकार का होता है।
- (२) यह चारों प्रकार की कर्म की अवस्थाएँ अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त ही होती हैं।
- (३) अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों (नौवें गुणस्थान के परिणाम) द्वारा यह निधत्ति एवं निकाचित करण टूट जाते हैं।
- (४) ये निधत्ति, निकाचितरूप या निकाचनारूप अवस्थाएँ सकल प्रकृतियों की सम्भव हैं।

प्रश्न : आत्मा और बन्ध को भिन्न करने का साधन क्या ?

उत्तर : आत्मा और बन्ध को भिन्न करने में भगवती प्रज्ञा ही एक साधन है। राग से भिन्न स्वभावसन्मुख झुकाव करना, एकाग्रता करना, ढलना - यही एक साधन है। राग से भिन्न पड़ने में ज्ञानातिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं।

- आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ-२५

enānā`mg go km^

१. ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।
२. ज्ञान से ही कषायों का अभाव हो जाता है।
३. ज्ञानाभ्यास से माया, मिथ्यात्व, निदान ह्व इन तीन शल्यों का नाश होता है।
४. ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है।
५. ज्ञान से ही अनेक प्रकार के दुःखदायक विकल्प नष्ट हो जाते हैं।
६. ज्ञानाभ्यास से ही धर्मध्यान व शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है।
७. ज्ञानाभ्यास से ही जीव व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते।
८. ज्ञान से ही जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है। अशुभ कर्मों का नाश होता है।
९. ज्ञान से ही जिनधर्म की प्रभावना होती है।
१०. ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप कर्म का ऋण नष्ट हो जाता है।
११. अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।
१२. ज्ञान के प्रभाव से ही जीव समस्त विषयों की वाञ्छा से रहित होकर संतोष धारण करते हैं।
१३. ज्ञानाभ्यास/शास्त्राभ्यास से ही उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होते हैं।
१४. ज्ञान से ही भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है।
१५. ज्ञान से ही परमार्थ और व्यवहार दोनों व्यक्त होते हैं।
१६. ज्ञान के समान कोई धन नहीं है और ज्ञानदान समान कोई अन्य दान नहीं है।
१७. ज्ञान ही दुःखित जीव को सदा शरण अर्थात् आधार है।
१८. ज्ञान ही स्वदेश में एवं परदेश में सदा आदर कराने वाला परम धन है।
१९. ज्ञान धन को कोई चोर चुरा नहीं सकता, लूटने वाला लूट नहीं सकता, खोंसनेवाला खोंस नहीं सकता।
२०. ज्ञान किसी को देने से घटता नहीं है, जो ज्ञान-दान देता है; उसका ज्ञान निरन्तर बढ़ता ही जाता है।
२२. ज्ञान से ही मोक्ष प्रगट होता है।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार : अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना)

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1. श्री शुद्धात्म पुत्र श्री महेश भण्डारी (सभी दातार भोपाल के हैं)	10,000.00
2. श्रीमती स्नेहलता ध.प. देवेन्द्र बड़कुल	1,100.00
3. ज्योति वीरेन्द्रजी बड़कुल	1,100.00
4. श्राविका पुत्री शिल्पा मोहित बड़कुल	1,100.00
5. सुधा अशोकजी सुभाष ट्रांसपोर्ट	1,100.00
6. श्री सतीशजी लीडर	1,100.00
7. श्री अरविन्दजी सोगानी	1,100.00
8. श्री प्रदीपजी सोगानी	1,100.00
9. अतीशा पुत्री अजय सोगानी	1,100.00
10. वैभव शैलेन्द्र सोगानी	1,100.00
11. अवधि पुत्री गौरव सोगानी	1,100.00
12. श्री महेन्द्र जैन महावीर ब्रूम	1,100.00
13. श्री मदन मस्त जैन	1,100.00
14. श्री उमेशचन्द जैन	1,100.00
15. कृति पुत्री संजीव जैन	1,100.00
16. सारिका राजीव जैन	1,100.00
17. गौरव राजकुमारजी पुट्टा मिल	1,100.00
18. श्रीमती स्नेहलता ज्ञानचन्द जैन	1,100.00
19. श्री गौरव सोगानी	500.00
20. श्रीमती विनीता सोगानी	500.00
21. श्रीमती मनीषा ध.प. दिनेश जैन	500.00
22. श्री प्रमोद जैन लोहा बाजार	500.00
23. श्री अजीतजी बजाज	500.00
24. प्रदीप लीलाधर गोहिल	500.00
25. पण्डित कस्तूरचन्दजी बजाज	500.00
26. श्रीमती सुशीला श्रीचन्दजी	500.00
27. श्रीमती सपना गोयल	500.00
28. श्रीमती सविता अरुण राजवंश	500.00
29. श्रीमती कल्पनाजी ध.प. देवेन्द्र जैन	500.00
30. श्रीमती शकुन्तला जैन	500.00
31. श्रीमती सरोज जैन, गुना	500.00
32. श्री हुकमचन्द शैलेन्द्र कुमारजी	500.00
33. श्री मनोज जैन आरएम	500.00
34. श्री दिलीप सोगानी	500.00
35. श्रीमती रितू जैन	500.00
36. श्रीमती मंजू रविन्द्र जैन पुट्टा मिल	500.00
37. श्रीमती सावित्री बाई ध.प. स्व. श्री माणकचन्दजी	500.00
38. श्रीमती चन्द्रकान्ता धन्यकुमारजी	500.00
39. श्रीमती अंजु राजेन्द्र जैन	500.00
40. कु. आरुषी एवं अक्षिता जैन	500.00

कुल योग 39,700.00

औपशमिक चारित्र

द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान वाले पूर्ण औपशमिक चारित्र से सम्पन्न हो सकते हैं। हम यहाँ पूर्ण औपशमिक चारित्र प्रगट होने के क्रम का कथन करना चाहते हैं।

१. अनन्तानुबंधी कषाय चौकड़ी; अन्य बारह कषाय (अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी, प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी तथा संज्वलन कषाय चौकड़ी) एवं हास्य, रति आदि नौ नोकषायरूप से परिणत होकर अर्थात् विसंयोजित होकर अपना अस्तित्व मिटा देती है। अनन्तानुबंधी चौकड़ी के विसंयोजन का यह कार्य (धवला पु. १; मूलाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीकाओं आदि के उल्लेखानुसार चौथे से सातवें गुणस्थान में से कहीं भी, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज उपशम श्रेणी चढ़ने के लिए करते हैं। अथवा

क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि चौथे, पाँचवें, छठवें अथवा सातवें - इन चार गुणस्थानों में से कहीं भी, किसी भी गुणस्थान में कर सकते हैं।

२. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में क्रमशः अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी में और प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी, संज्वलनकषाय चौकड़ी में परिवर्तित होकर इन दोनों कषाय चौकड़ी का भी अभाव हो जाता है।

३. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही हास्यादि नौ नोकषायों का भी संज्वलन कषाय चौकड़ी में संक्रमण हो जाता है।

४. अब चारित्र मोहनीय में मात्र संज्वलन कषाय चौकड़ी का ही अस्तित्व रहा है। उनमें भी निम्न प्रकार संक्रमण हो जाता है।

१. संज्वलनकषाय चौकड़ी में से क्रोधकषाय का पूर्ण द्रव्य, संज्वलनमानकषायरूप में संक्रमित हो जाता है।

२. संज्वलनमान कषाय का पूर्ण द्रव्यकर्म, संज्वलनमायाकषायरूप में संक्रमित हो जाता है।

३. संज्वलनमायाकषाय का पूर्ण द्रव्य अब संज्वलनलोभकषाय में परिवर्तित होता है।

४. यह संज्वलनलोभ कषाय, बादर कषाय रूप में विद्यमान है। संज्वलनकषाय संबंधी यह सब कार्य उपशमक अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में उपशम श्रेणी में ही हो गया है।

५. उपशमक नौवें गुणस्थान में बढ़ती हुई वीतरागता का निमित्त पाकर बादर लोभ कषाय, सूक्ष्म लोभरूप में बदलते ही मुनिराज का गुणस्थान दसवाँ (सूक्ष्मसांपराय) हो जाता है।

७. यहाँ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त काल बिताकर मुनिराज को पूर्ण वीतरागी होते-होते सूक्ष्मलोभ कषाय का उपशम हो उपशांतमोह गुणस्थान की प्राप्ति हो जाती है। इस ग्यारहवें गुणस्थान में मुनिराज पूर्ण औपशमिक चारित्र सम्पन्न हैं।

प्रश्न : क्या अपूर्ण औपशमिक चारित्र भी होता है?

उत्तर : हाँ, होता है। उपशमक अपूर्वकरण गुणस्थान से लेकर उपशमक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यन्त के तीनों गुणस्थान में व्यक्त चारित्र को भी औपशमिक चारित्र ही कहते हैं; तथापि वहाँ औपशमिकचारित्र में पूर्णता नहीं है।

प्रथम संस्करण : ५००

२६ जनवरी २०१३

मूल्य :
१५ रुपये

टाइपसेटिंग
त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स
ए-४, बापूनगर
जयपुर

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
● प्रकाशकीय	३
● संपादकीय	४
● मनोगत	१५
● विषय प्रवेश	१९
१. अधिकार पहला : नक्शों में दशकरण	२७
२. अधिकार दूसरा : बंधकरण	५३
३. अधिकार तीसरा : सत्त्वकरण	८५
४. अधिकार चौथा : उदयकरण	९७
५. अधिकार पाँचवाँ : उदीरणाकरण	१३३
६. अधिकार छठवाँ : उत्कर्षण-अपकर्षण	१४९
७. अधिकार सातवाँ : संक्रमणकरण	१५९
८. अधिकार आठवाँ : उपशांतकरण	१६७
९. अधिकार नौवाँ : निधत्ति-निकाचितकरण	१७३

पताशे प्रकाशन संस्था घटप्रभा (बेलगाँव -कर्नाटक) के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मराठी	कन्नड	१७. तत्त्ववेत्ता : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
१. आचार्य कुंदकुंददेव	९. आप कुछ भी कहो	१८. योगसारप्राभृत-शतक
२. णमोकार महामंत्र	१०. सूक्ति-सुधा	१९. जीव जीता-कर्म हारा (दशकरण चर्चा)
३. योगसार	११. शुद्धात्म सौरभ	विशेष
४. परमात्मप्रकाश	१२. कौंडेशनिंद कुंदकुंद	संस्था द्वारा प्रकाशित
५. जिनधर्म-प्रवेशिका	१३. जिनधर्म-प्रवेशिका	छहढाला (कन्नड), योगसार
६. जिनेन्द्र-अष्टक	१४. गुणस्थान-विवेचन	(मराठी) के ऑडियो कैसेट
७. योगसार (पॉकेट साईज)	१५. जिनधर्म-प्रवेशिका	भी उपलब्ध हैं।
८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा	१६. क्षत्रचूडामणि	

मुद्रक : श्री प्रिन्टर्स मालवीयनगर, जयपुर

प्रकाशकीय

ब्र. यशपालजी मेरे बड़े भाई साहब ब्र. यशपालजी जैन (जिन्हें हम घर में अण्णाजी कहते हैं) द्वारा लिखित एवं डॉ. अरुणकुमार बंड, अलवर द्वारा संपादित जीव जीता-कर्म हारा (दशकरण चर्चा) इस नवीनतम कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

सामान्यरूप से समाज में 'कर्म ही बलवान है, कर्म के सामने जीव का कुछ भी नहीं चलता। तीर्थंकर होनेवाले जीवों को भी कर्मों ने सताया है' ऐसी मिथ्या धारणा अज्ञान के कारण अनभ्यासी तथा जिनवाणी का अध्ययन करने वालों की भी बनी रहती है। इस पुस्तक का नाम ही यह बताता है कि जीव की जीत हो गयी है और कर्म हार गये हैं।

इस कृति में जिनवाणी के ही आधार से कोई भी कर्म ऐसा बलवान नहीं है, जो जीव को पराजित कर सके। कर्म तो जड़/अचेतन है वे जीव को कैसे दुःखी/परेशान कर सकते हैं। इस प्रयोजनभूत विषय को इस पुस्तक में आचार्य एवं विद्वानों से रचित शास्त्रों के आधार से विशेष रूप से स्पष्ट किया है।

यह गोम्मटसार का विषय समयसार को समझने के लिए है। इसलिए समयसार के रसिक मुमुक्षुओं को इससे विशेष लाभ होगा। जिन लोगों ने गोम्मटसार एवं धवला, जयधवला एवं महाधवला भी पढ़ा है, उनको जिनवाणी का अर्थ समझने की कला/दृष्टि प्राप्त होगी; ऐसी हमें आशा है।

ब्र. यशपालजी चारों अनुयोगों के संतुलित अध्येता एवं वैराग्य-रस से भीगे हृदयवाले आत्मारथी विद्वान् हैं। टोडरमल स्मारक भवन में संचालित होने वाली प्रत्येक गतिविधि में आपका सक्रिय योगदान रहता है। ट्रस्ट के अनुरोध से आप बारम्बार प्रवचनार्थ भी अनेक स्थानों पर जाते रहते हैं।

नक्शों को तैयार करने का कष्टसाध्य कार्य श्री कैलाशचन्दजी शर्मा ने किया है। अतः उन्हें और दानदातारों को भी संस्था धन्यवाद देती है।

इस पुस्तक की प्रकाशन व्यवस्था में साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, अतः वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तक आप सभी आत्मारथियों को कल्याणकारी हो ह्व इसी भावना के साथ।

ह्व श्रीमती इंदुमति अण्णासाहेब खेमलापुरे

अध्यक्षा

पताशे प्रकाशन संस्था, घटप्रभा, बेलगाँव (कर्नाटक)

